# अध्याय 1

## "भक्ति की अवधारणा और स्वरूप"

(1) भक्ति की परिभाषा

(2) भक्ति का उद्भव एवं विकास

- (क) वेदों में भक्ति का स्वरूप
- (ख) उपनिषद में भक्ति का स्वरूप
- (ग) पुराणों में भक्ति का स्वरूप
- (घ) श्रीमद्भागवत में भक्ति का स्वरूप
- (च) गीता में भक्ति का स्वरूप
- (छ) अन्य आयामों द्वारा भक्ति का उत्थान

(3) भक्ति के प्रकार

(4) भक्ति के साधन

# भक्ति की अवधारणा और स्वरूप

भक्ति मानव-जीवन से जुड़ा तत्व है, जीवन प्रवाह के साथ भक्ति तत्व भी प्रवाहित होता रहा है। मनुष्य मात्र में सुख की लालसा और क्षेम-कुशलता की वृत्ति होती है, दुश्मन का भय और आध्यात्मिक कल्याण की भावना भी होती है। इसी भूमिका के आधार पर तमाम मान्यताओं-संप्रदाय, ईश्वर के स्वरूप की कल्पना, स्वर्ग-नर्क की मान्यता, पुनर्जन्म एवं अवतार आदि का जन्म हुआ। भय मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है और इसी भय का प्रतिकार कर सके, ऐसे किसी विशिष्ट शक्तिशाली तत्व की शरण मनुष्य लेना चाहता है।

वैसे तो भक्ति-प्रवाह के मूल तत्व तक पहुँचना बड़ा मुश्किल है। "भक्ति मानव स्वभाव से उत्पन्न हुआ तत्व है, मानवजाति के अस्तित्व के साथ ही भक्ति का अस्तित्व जुड़ा है।"[1] भक्ति का उद्भव और उसका इतिहास बहुत पुराना है, इसकी असीम व्यापकता को काल की सीमा अवधि में देखना बहुत कठिन है। उपलब्धग्रथों और पुरातात्विक सामग्री से यह निश्चित अनुमान किया जाता है कि "परमात्मा की दिव्य शक्ति की भक्ति हजार वर्ष पूर्व प्रचलित थी। उपनिषद काल से पाँच हजार वर्ष पूर्व जन समाज 'महापापी' पर विश्वास करता था।"[2] यजुर्वेद में वृक्षों, नदियों आदि की स्तुतियां मिलती हैं, वृक्ष और नदियों की पूजा प्रकृतिमूलक भक्ति है। एक अनुमान यह भी किया जाता है कि यही प्रकृतिमूलक उपासना दैवी शक्ति की उपासना में परिवर्तित हुई है। यह भक्ति अंध परंपरा या अंधविश्वास पर आधारित नहीं है, सौन्दर्यशक्ति की भावानुभूति या प्रतीक है। भक्ति के उद्भव से लेकर आज तक जो भी धार्मिक एवं सांप्रदायिक मान्यताएँ विकसित हुईं, उन्हें दो शाखाओं में विभाजित किया जा सकता है, एक ज्ञानमार्ग और दूसरा भक्तिमार्ग। किसी ने ज्ञानमार्ग तो किसी ने भक्तिमार्ग को

अपनाया और परम सत्य की साधना-आराधना करके आध्यात्मिक सुख प्राप्ति का प्रयास किया। मार्ग चाहे कोई भी हो, उसका उद्देश्य ईश्वर तक पहुंचना है।

## 1. भक्ति की परिभाषा :

भक्ति मानवजाति का सर्वस्व है, प्रत्येक मनुष्य इसी के आधार पर अपने कल्याण की इच्छा करता है और इसी से कल्याण होने का दृढ़ विश्वास रखता है। उस भक्ति के क्या लक्षण हैं?- यह विचार यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। क्योंकि हमारे शास्त्र मानते हैं कि लक्षण और प्रमाण से ही किसी वस्तु की सिद्धि हुआ करती है, जिसका कोई लक्षण नहीं, वह वस्तु ही सिद्ध नहीं। इसलिए शास्त्रकार सभी वस्तुओं का लक्षण बताया करते हैं। तदनुसार भक्ति का भी कोई न कोई लक्षण होना आवश्यक है।

भक्ति के लक्षणों की चर्चा करते हुए विद्वानों ने कहा है कि-"भक्ति पर संस्कृत की 'भज्' धातु में 'क्तिन' प्रत्यय के योग से बना है। 'क्तिन' प्रत्यय का अर्थ है 'प्रेम' और 'धातु' का अर्थ है-सेवा करना। धातु और प्रत्यय के योग से एक संपूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति होती है और उस अर्थ में प्रत्यय का अर्थ ही प्रधान रहता है अतः भक्ति का अर्थ हुआ-सेवा करना।"[3] भक्ति प्रतिपादक शास्त्रों और पुराणों में भक्ति की अनेक परिभाषाओं का उल्लेख किया गया है। 'श्रीमद्भागवत पुराण' में कहा गया है-

"देवानां गुणलिंगानामानु श्रविक कर्मणाम्।
सत्व एवैक मनसोवृत्तिः स्वाभाविको तुया।
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी॥"[4]

अर्थात् भगवान के प्रति आसक्त पुरुषों की उनके प्रति प्रवृत्ति का नाम भक्ति है।

'देवी भागवत' में भक्ति की परिभाषा इस प्रकार है-

"पुज्येष्वनुरागो भक्ति :।[5]

अर्थात् पूज्य में अनुराग होना भक्ति है। भक्ति का निरूपण करनेवाले दो सूत्र प्रसिद्ध हैं-

(1) 'शांडिल्य' का 'शांडिल्यभक्तिसूत्र' और

(2) 'नारद' का 'नारदभक्तिसूत्र'।

शांडिल्यसूत्र में भक्ति की व्याख्या देते हुए कहा गया है-

"सा परानुरक्तिरीश्वरे।"[6]

अर्थात् ईश्वर के प्रति अनन्य अनुराग ही भक्ति है। 'शांडिल्य' ने यह भी कहा है-

"तप्तरिशुद्धिश्च गम्या लोकवल्लिगेभ्य :[7]

भक्ति की दृढ़ता एवं निर्मलता का ज्ञान लौकिक प्रीति की भाँति भगवतकथा-श्रवण, नाम कीर्तन आदि में रोमांच और अश्रुपात आदि चिह्नों से होता है।

'नारदभक्तिसूत्र' में कहा गया है कि-

"पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्य :[8]

पूजा आदि में अनुराग होना भक्ति है।अपने भक्तिसूत्र में नारद ने स्पष्ट कहा है कि-

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता
तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।"[9]

संपूर्ण कर्मों को भगवान के प्रति अर्पित कर देना और क्षण के लिए प्रभु का विस्मरण होने पर व्याकुल होना ही भक्ति है। 'नारद' ने भक्ति को प्रेमरूपा और अमृत-स्वरूपा माना है, और ऐसी भक्ति की प्राप्ति होने पर मनुष्य को न तो किसी वस्तु की आकांक्षा रहती है, न वह शोक करता है, न द्वेष करता है और विषयभोग की प्राप्ति में उसे उत्साह ही होता है, ब्रज की गोपियों में ही प्रेमरूपा भक्ति थी।

भक्ति की परिभाषा देते हुए 'हरिभक्ति रसामृतसिन्धु' के कर्ता 'श्री रूपगोस्वामी' ने कहा है-

"अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकमधि नावृतम।
आनुकूल्येन कृष्णनुशीलनं भक्तितरुतमा॥"[10]

ज्ञान और कर्म से अनाच्छादित एवं समस्त कामनाओं से शून्य होकर सर्वभाषानुकूलता पूर्वक भावना का अनुशीलन करना भक्ति है।

'रामानुजाचार्य'-"स्नेहपूर्वक सतत ध्यान को भक्ति मानते हैं"[11]

'स्वामी विवेकानंद' कहते हैं-"निष्कपट होकर ईश्वर की खोज करना भक्ति है।"[12] 'शंकराचार्य' ने कहा है-

"स्वस्वरूपा नु संधान भक्तिरित्यभिधीयते"[13]

अर्थात् अपने स्वरूप का अनुसंधान करना भक्ति है।

'महाप्रभु वल्लभाचार्य' का कहना है-

"महात्म्य ज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा।"[14]

अर्थात भगवान के प्रति महात्म्य, ज्ञानयुक्त सुदृढ़ और सर्वाधिक स्नेह होना ही भक्ति है। मुक्ति इस भक्ति से ही प्राप्त होती है, अन्य किसी साधन से नहीं।

डॉ. गोपीनाथजी का कहना है कि-

"भक्ति हलादिनी शक्ति की एक विशेष वृत्ति है।"[15]

हिन्दी के समर्थ आलोचक 'आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी' भक्ति की परिभाषा देते हुए कहते हैं-

"श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है, जब पूज्य भाव की वृद्धि के साथ श्रद्धाभाजन के सामीप्य-लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो तो हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए।"[16]

भक्ति शब्दार्थ के क्रमिक विकास की बात करते हुए 'श्रीगिरिधरजी शर्मा' ने कहा है कि-"'भक्ति' और 'भाग' दोनों शब्द एक ही धातु से सिद्ध होते हैं, यद्यपि दोनों शब्दों में प्रत्यय भिन्न हैं, तथापि उन दोनों प्रत्ययों का अर्थ भी व्याकरण में एक ही माना गया है। इससे सिद्ध होता है कि भक्ति और भाग शब्द समानार्थक हैं, 'वैदिक वाङ्मय' में भक्ति शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ में प्रायः मिलता है।"[17]

यहाँ श्रीगिरिधरजी का संकेत इस दिशा में है कि-मनुष्यमात्र ईश्वर का भाग है, किन्तु मैं याने जीव ईश्वर का भाग हूँ-ऐसा ज्ञान इन्हें नहीं है। ये अपने आपको स्वतंत्र समझ रहे हैं। इसलिए हम जिसके अंश हैं, उसका अंश होना स्वीकार करें और परमानन्दरूप होकर सब दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर लें, अर्थात मैं ईश्वर का अंश हूँ, भाग हूँ-इस बात की स्वीकृति ही भक्ति है।

आचार्य 'मधुसूदन सरस्वती' ने भक्ति के लक्षण की बात करते हुए कहा है-

"द्रुतस्य भगवद्धमार्य धारावाहि कतांगता।
सर्वेशे मनसो वृत्रिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥"[18]

मधुसूदनजी का कहना है कि चित्त एक कठिन वस्तु है, जैसे कठिन वस्तु को अग्नि के ताप से पिघलाकर फिर उसे किसी साँचे में ढाला जाता है, उसी प्रकार श्रवण, कीर्तन आदि उपायों से पहले चित्त को पिघलाना चाहिए। जब वह पिघल जायेगा और तेल की धारा के समान एक अविच्छिन्न वृत्ति बन जायेगी, यह वृत्ति ईश्वर की ओर लगे तब उनका नाम भक्ति है।

यहाँ भक्ति की परिभाषा की चर्चा करते हुए मैंने भागवतकार से लेकर मधुसूदन जैसे विविध विद्वानों के विचारों का प्रतिपादन किया है, इन्हीं प्रतिपादित विचरों का सारांश भागवतकार द्वारा दी गई परिभाषा में ही आ जाता है। भागवतकार ने कहा है-

"भगवान के प्रति आसक्त पुरुषों की उनके प्रति प्रवृत्ति का नाम भक्ति है।"

रज, तम और सत् गुणों से परे ऐसे भगवान का यशोगान करने की प्रवृत्ति हो, या दुनिया के कपट से मुक्त रहकर प्रभु की खोज करने की प्रवृत्ति हो, या आराध्य देव के विविध रूपों में से किसी एक स्वरूप का स्वीकार करके प्रभु का ध्यान करने की प्रवृत्ति हो, या आत्मा को परमात्मा के साथ एकरूप करने का प्रयास हो, या प्रभु की दिव्य तेजोमय शक्ति का स्वीकार करने

की प्रवृत्ति हो, या मन, वचन, कर्म से प्रभु को समर्पित होने की प्रवृत्ति हो, ऐसी प्रत्येक प्रवृत्ति का लक्ष्य अपने आराध्य को रिझाने का ही है। इन्हीं प्रवृत्तियों में से किसी भी एक प्रवृत्ति को अपनाकर मनुष्य परमात्मा को प्राप्त करने का प्रयास करता है। भक्ति की परिभाषा देते हुए उपरोक्त सभी विद्वानों ने किसी न किसी एक प्रवृत्ति का उल्लेख किया है, किन्तु भागवतकार ने गागर में सागर भर दिया है। अतः मानव अपने आराध्य को केन्द्र में रखकर तन-मन से जो प्रवृत्ति करता है, वह भक्ति है।

## 2. भक्ति का उद्‌भव और विकास :

भक्ति के उद्‌भव एवं विकास की चर्चा करते हुए इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भक्ति के उद्देश्य का इतिहास इतना पुराना है, जितना मानव की उत्पति का इतिहास पुराना है। भक्ति शब्द बहुत बाद में आया, किन्तु भक्तिभावना वैदिक युग के पहले से ही चली आयी है। विविधशास्त्रों और विद्वानों के मंतव्यों को आधार बनाकर भक्ति के उद्‌भव और विकास की चर्चा यहाँ की जाएगी।

## सिन्धु संस्कृति :

'मोहनजोदड़ो' की संस्कृति वैदिक संस्कृति से बहुत पुरानी है। [19] वैदिक आर्यों ने शिव पशुपति और रुद्र आदि की पूजा की प्रेरणा 'मोहनजोदड़ो' की संस्कृति से प्राप्त की होगी। ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर सिन्धु संस्कृति को देखा जाय तो सिन्धु संस्कृति नगर-संस्कृति थी। लोग खेती और व्यापार में कुशल थे, स्थापत्य कला और स्त्रियों के श्रृंगार की चीजें भी मिलती थीं, व्यवहार में सिक्कों का चलन भी था, भावों की अभिव्यक्ति के लिए लिपि का भी निर्माण इस समय में देखने को मिलता है। इस युग के लोग शिव, पशुपति, पृथ्वी, अग्नि, वृक्ष और सर्प आादि उनकी धार्मिक मान्यातओं के देवता थे।

## आर्यसंस्कृति :

आर्य प्रथम सप्तसिंधु के प्रदेश में आकर बसे, धीरे-धीरे मध्यप्रदेश की ओर आगे बढ़े, बाद में गंगा-यमुना के मैदानों में आये। आर्य जब भारत में आये उस समय जो मूल जातियों यहाँ की थीं उन्हें दास और निषाद नाम दिया, और विंध्य का उत्तरी भाग आर्यावर्त्त के नाम से जाना गया। आर्य होम-हवन आदि में मानते थे। भटकती आर्य जाति के विकास में द्राविड़ संस्कृति का विशेष योगदान रहा है।

यहाँ प्राचीन भारतीय मानव के विकास और रहन-सहन के साथ आर्यों की धार्मिक मान्यता और देवों के आधार सिन्धु संस्कृति में मिलते हैं, इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान की साधना, आराधना सिन्धु-संस्कृति से चली आयी है।

## (क) वेदों में भक्ति का स्वरूप :

भौगोलिक स्थिति, परंपरागत प्रणालिका, आर्यों और आर्येतर जातियों के संघर्ष और समन्वय का प्रयास आदि के मंथन रूप में वैदिक साहित्य का सृजन हुआ। वेद आध्यात्मिक ज्ञान के एक मात्र मूल स्रोत हैं, वेदों में यथार्थ रूप से सभी प्रकार के कर्म, अकर्म और विकर्म की परिभाषा दी गयी है। "ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि वेदों में भाषा की दृष्टि से 'ऋग्वेद' सबसे प्राचीन ग्रंथ है।"[20] "वेदों का सच्चा उपदेश तो यह है कि मानव ईश्वरीय आराधना के द्वारा कर्मों के फल से सर्वथा अनासक्त रहकर नैष्कर्म्य की स्थिति को प्राप्त कर ले।"[21]

चारों वेदों में ऋग्वेद अति प्राचीन एवं विस्तृत है। उसमें ऋषियों के सरल विचार व्यक्त किये गये हैं। साधारणतया वेद के कर्म, उपासना और ज्ञान ये तीन कांड माने जाते हैं। इनमें कर्मकांड का संबंध संहिता के ब्राह्मणभाग से और उपासना तथा ज्ञानकांड का संबंध 'आरण्यक उपनिषद भाग से है, फिर भी-

"सर्वे देवायत् पदमामनन्ति"[22]

"वैदेश्च सवैरहभेव वेधः।"[23]

उपरोक्त वचनों के आधार पर यह निश्चित होता है कि समस्त वेदों का परम तात्पर्य परमेश्वर के ही प्रतिपादन में है। इन्द्र वरुण, अग्नि, यम, सोम आदि विभिन्न रूपों से एक ही परमेश्वर समस्त सृष्टि का संचालन कर रहे हैं-

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरयो,
दिव्यः ससुपर्णो गुरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं,
यमं मातरिश्वानमाहु :॥"[24]

ऋग्वेद का यह मंत्र प्रमाण देता है कि एक ही परमेश्वर इन्द्रादि विविध नामों से पुकारा गया है, अतः वेदों में इन्द्रादि विविध नामों से जो भी स्मृतियाँ की गयी हैं, ये वस्तुतः परमेश्वर की ही हैं।

वेदमंत्रों की प्रशंसा करते हुए 'मेकडोनल' ने कहा है "ऋग्वेद लोकगीतों का संग्रह नहीं है, परंतु विप्रवर्ग द्वारा कौशल्य के साथ रचित, यज्ञ में नैवेध एवं घी की आहुति के लिए उच्चरित होनेवाली कविताओं का समुदाय है।"[25] प्रेमलक्षणा भक्ति का मूल वेदों में दिखाई देता है। ऋग्वेद के सूक्तों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि देवों की स्तुति करनेवाला वैदिक भक्त देवों को माता, पिता, सखा, पुत्र और पति के रूप में संबोधित करता है। वैदिक भक्तों के ऐसे संबोधन से यह स्पष्ट होता है कि यहाँ पूज्यभाव के साथ हृदय की कोमल भावना भी प्रवाहित होती है। ईश्वर से अत्यंत निकटता की कल्पना करनेवाला भक्त अंत में प्रभु का प्रेमी बन जाता है।

वैदिक भक्ति के स्वरूप की चर्चा करते वक्त एक बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि "वैदिक साहित्य में कोई मंत्र ऐसा नहीं मिलेगा जिसमें उपासक, साधक अथवा भक्त अपने को अधम, नीच, पापी, खल, दुष्ट, पतित इत्यादि कहे अथवा भगवान को किसी प्रकार का उपालंभ दे।"[26] अतः वैदिक युग में भक्ति और शक्ति का अटूट संबंध रहा है। वैदिक भक्ति का दूसरा

लक्षण है सबको मित्र की दृष्टि से देखना, ऋग्वेद के शब्दों में कहें तो-

"मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षान्ताम्।"[27]

वैदिक भक्त प्रभु को सखा, मित्र, मानता है, अर्थात् प्राणिमात्र में प्रभु के दर्शन करना-ऐसा विचार यहाँ स्पष्ट होता है। वेदों में सशक्त एवं आत्मविश्वासी भक्ति का स्वरूप दिखाई देता है। वेदों के द्वारा प्रभु यह आदेश देते हैं कि निर्बल और अशक्त आत्मा सच्चा भक्त नहीं बन सकती।

"कृतं में दक्षिणे हस्ते जयो में सव्य आहित :।"

दायें हाथ में कार्यशक्ति और बायें हाथ में विजय-यह कहने की खुमारी वैदिक भक्तों में थी। और बड़ी तन्मयता के साथ विशाल प्रभु चरणों में नतमस्तक होकर कहता है भूत, भविष्य और वर्तमान को जाननेवाले अन्तर्यमी, त्रिकाल के स्वामी, निर्विकार सुख की प्राप्ति करनेवाले जगदीश्वर को मेरा नम्र प्रणाम।

"यस्य भूमिः प्रभा अन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धनि तस्मै ज्येष्टाय ब्रह्मणे नमः॥"[29]

वेद के भक्त ने भगवान से माँगा है तो क्या माँगा है-

"गूहता गुह्यं तमो वियता विश्वम् त्रिणम्।
ज्योतिष्कर्ता यदुस्मसि॥"[30]

अर्थात् हे प्रियतमा हृदय-गुहा के अंधकार को विलीन कर दो पाप को भगा दो और हे ज्योतिर्मय ! हम जिस ज्योति को चाहते हैं, वह हमें दो। वैदिक भक्तों ने भगवान की शरण में ही सुख और शांति की कल्पना की है। अतः यहाँ शरणागत की भावना के भी दर्शन होते हैं और वेदों में विश्व को दुःखदायक, श्रमपूर्वक नहीं बताया है, बल्कि विश्व को रमणीय एवं वास्तविक समझा है-

"वसन्त इन्नु रन्त्यः ग्रीष्म इन्नु रन्त्य :।
वर्षाव्यिनुशरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः॥[31]

वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर आदि रमणीय हैं। मन स्वयं भक्त बने, विश्व तो रमणीय ही है। प्रभु की सर्वव्यापकता का वर्णन करते हुए यजुर्वेद का एक मंत्र कहता है-

"जिसकी महिमा का गान हिम से ढंके हुए पहाड़ कर रहे हैं, जिसकी भक्ति का राग समुद्र अपनी सहायक नदियों के साथ सुना रहा है और ये विशाल दिशाएँ जिसकी बाहुओं के सदृश हैं, उस आनंद-स्वरूप प्रभु को मेरा नमस्कार है।"[32]

वेदों में भक्ति की चर्चा करते हुए यहाँ जो भी वैदिक मंत्र को आधार बनाकर बात कही गयी है, उससे यह स्पष्ट होता है कि वेद ही भक्ति का आदि स्रोत है और इन्द्र के स्वरूप को स्वीकारा गया है-

"यत्र देवः समेगच्छन्त विश्वे।[33]

"यो देवानां नामधा एक एव।"[34]

इन्द्र परमात्मा ही सर्वदेवमयी है एवं समस्त देव एक इन्द्रस्वरूप ही है। पहले कहा है, उस प्रकार वेदों में भक्ति शब्द नहीं था, किन्तु भक्तिभाव अवश्य था, श्रद्धा शब्द का प्रयोग प्रायः देखने में आता है, "श्रद्धायाग्नि : श्रद्धया हूयते हविः।" आदि वेदों के संहितायुग में देवविषयक भक्ति मूलक जो सहज सरल धर्म देखने में आता है वह वेदों के ब्राह्मण युग में आकर जटिल, क्रिया विशेष बहुल, यज्ञानुष्ठान में परिवर्तित हो जाता है। कालक्रम से एक ऐसा मत प्रवल हो उठा कि यज्ञकर्म एकमात्र धर्म है, उसी के द्वारा स्वर्ग प्राप्त किया जा सकता है, यज्ञ का अनुष्ठान इन्द्रादि देवताओं को प्रसन्न करने के उद्देश्य से किया जाता है, फिर भी मुख्यता यज्ञ की है; देवता गौण हैं, स्वर्गकामना से यज्ञ करे-इसका नाम वेदवाद है। अतः वेदों में इन्द्र को आराध्य देव का स्थान दिया गया है।

## (ख) उपनिषद में भक्ति का स्वरूप

कर्मप्रधान वैदिक युग में यज्ञ की स्थूल एवं जड़ क्रियाओं का प्रभुत्व बढ़ गया था, उसी का खंडन करते हुए ज्ञानप्रधान उपनिषद्युग सामने आया और कर्म-कांड की प्राणहीन बाह्यिकता के विरुद्ध प्रतिवाद की सूचना दी। "उपनिषद युग में साधक की दृष्टि बहिर्जगत से लौटकर अन्तर्जगत में केन्द्रीभूत हो जाती है। चमत्कार का स्वरूप निर्णय करने के लिए उपनिषदों के ऋषियों ने समाहित होकर यह उपलिब्धि की कि इस नामरूपात्मक दृश्य प्रायश्च के अन्तराल में एक नित्य शाश्वत सत् पदार्थ है, ज्ञानयोग से उसको जानना चाहिए, वही ब्रह्म है।"[35] यह ब्रह्मविद्या ही उपनिषद या वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय है। उपनिषद कहते हैं कि 'वेदवाद' स्वर्गसाधक होने पर भी मोक्षसाधक नहीं है, एकमात्र ब्रह्मवाद के आश्रय से ही निःश्रेयस की प्राप्ति हो सकती है।

उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्मवाद में भक्ति का स्थान नहीं है, जो निर्गुण, निर्विशेष है उसके साथ भाव-भक्ति का कोई संबंध स्थापित नहीं होता, यह आत्मबोध रूप है। अतः सगुण ब्रह्म के बिना भक्तिमूलक उपासना संभव नहीं है। वैसे तो उपनिषदों में ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का विवरण दिखाई देता है। सगुण ब्रह्म के वर्णन में उपनिषदों में अनेक स्थलों पर देव, ईश्वर, महेश्वर आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।

'श्वेताश्वतर उपनिषद' में भक्ति शब्द का उल्लेख मिलता है। "यस्यदेवे परा भक्ति :[36] कठोपनिषद में कृपावाद का स्पष्ट उल्लेख है-

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेघया न बहुना श्रुतेन।
येमेवैष वृणुते तेन लभ्य,
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तन् स्वाम्"[37]

इस आत्मा को शास्त्र की व्याख्या के द्वारा नहीं प्राप्त कर सकते, मेधा के द्वारा भी नहीं, अनेक प्रकार के पांडित्य द्वारा भी नहीं। यह जिस पर कृपा करता है, केवल वही इसको प्राप्त कर सकता है।

उसके सामने यह आत्मा अपने स्वरूप को प्रकाशित करता है। उपनिषदकार ने कहा है-

"उर्ध्वं प्राणमन्नुयत्यपानं प्रत्यगस्यति।

मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥"[38]

अर्थात् ब्रह्म प्राणवायु को उर्ध्व दिशा में प्रेरित करता है, अपान वायु को निम्न दिशा में। वह सत्यम् भजनीयरूप में हृदय में, हृदय के भीतर निवास करता है, उसकी सारे देवता उपासना करते हैं। जिसकी देवता उपासना करते हैं, ऐसे प्राणवायु के प्रणेता, जीवमात्र को जीवंत रखनेवाले प्रभु का, मनुष्यमात्र को आराधना करना चाहिए। उपनिषदकार का मानना है कि ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए ब्रह्म की कृपा प्राप्त करनी पड़ती है। और यह ब्रह्मकृपा ज्ञान के द्वारा नहीं प्राप्त होती, इसके लिए ब्रह्म की सर्वोपिर सत्ता को स्वीकार करके भक्ति के द्वारा भगवद्-प्राप्ति होती है। 'कठोपनिषद में कहा है-"आत्मा अणु से भी अणु है, महान से भी महान है, यह प्राणी की हृदय-गुहा में अवस्थान करता है, निष्काम साधक ईश्वर की कृपा से उसका दर्शन करता है। दर्शन करने पर साधक में सर्वसत्ता आदि महिमा का आविर्भाव होता है।"[39] उपनिषद में जगह-जगह पर शान्त और दास्यभाव की भक्ति के दर्शन होते हैं, साथ-साथ सख्यभाव की भक्ति भी दिखाई देती है-

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते

तयोरन्यःपिप्पलं स्वाद्वत्य नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति"[40]

मधुर और वात्सल्यभाव की उपासना दस प्रधान उपनिषदों में नहीं है। कृष्णोपनिषद, गोपालपूर्वतापनी उपनिषद आदि म्रे मधुर और वात्सल्य भाव की उपासना आती है। उपनिषदों में ब्रह्म भिन्न वस्तु की ब्रह्म के रूप में उपसाना करने की बात आती है। इस प्रकार की उपासना को प्रतीक उपासना कहते हैं, क्योंकि सारे पदार्थ ब्रह्म के ही अंश हैं, जिसमें ब्रह्म न हो ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है।

"सर्व खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।"[41]

जगत की सभी वस्तुएँ ब्रह्म हैं, क्योंकि सभी वस्तुएँ ब्रह्म से ही उत्पन्न होती हैं। ऐसा मानने से मनुष्य की द्वेषभावना खत्म हो जायेगी और मन शांत रहेगा, जब मन शांत होता है तो उपासना में सुविधा रहती है। पहले कहा गया है, उसी प्रकार की प्रतीक उपासना उपनिषदों में दिखाई देती है।

"मनो ब्रह्मेत्युपासीत।"[42]

मन की ब्रह्मरूप में उपासना करो, जैसे ब्रह्म को इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता उसी प्रकार मन भी इन्द्रियों के द्वारा गृहीत नहीं होता। इसी कारण मन की ब्रह्मरूप में उपासना करने की बात कही गयी है। सूर्य जैसे ज्योतिर्मय है, उसी प्रकार ब्रह्म भी जयेतिर्मय है। इस समानता के कारण सूर्य की भी ब्रह्मरूप में उपासना करने की उपनिषद में है। उपनिषद में दिशाएँ, पृथ्वी, अंतरिक्ष, समुद्र, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, चक्षु और मन आदि की भी ब्रह्मरूप में उपासना करने की बात कही गयी है।

इस प्रकार उपनिषद में प्रतीक उपासना के साथ-साथ, सख्यभाव की भक्ति, ब्रह्म के प्रति संपूर्ण रूप से आत्म समर्पण की भावना, ब्रह्म की कृपा के बिना ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती-ऐसी भावना को महत्व दिया गया है। उपनिषद का उद्देश्य भक्ति द्वारा ज्ञान की प्राप्ति तथा ज्ञान के द्वारा ही ब्रह्म की प्राप्ति कराने का रहा है। उपनिषद का ब्रह्म कहता है-केवल अनन्य भक्ति के द्वारा ही मेरी प्राप्ति होती है। उपनिषद में केवल ज्ञान की ही चर्चा नहीं है, उपनिषद का तातपर्य भी यही है, पहले भक्ति बाद में ज्ञान और ज्ञान के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति। यहाँ परमात्मा तर्क का विषय नहीं हैं, वह केवल भक्ति के द्वारा ही जाना जाता है। परमात्मा एक है और सारे संसार को वश में रखता है, जड़ प्रकृति से नाना प्रकार के रूपों को बताता है। सूर्य अपने तेजोमय रूप से उनकी महानता को प्रकट कर रहा है और चन्द्रमा अपनी शीतलता से परमेश्वर का स्तवन कर रहा है। हमें

ऐसे ब्रह्म की भक्ति करनी चाहिए-यही उपनिषदों की भक्ति का संदेश है। भक्ति साधना के जो बीज वैदिक युग में बोये गये थे, वही क्रमिक विकास के रूप में उपनिषद युग में आकर अंकुरित और पल्लवित हुए हैं।

## (ग) पुराणों में भक्ति का स्वरूप :

हिन्दू धर्म के क्रमिक विकास का इतिहास स्थूल रूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है-

(1) कर्मप्रधान वैदिक युग

(2) ज्ञानप्रधान उपनिषद युग

(3) भक्ति प्रधान पौराणिक युग

भक्ति का बीज वेदों के संहिता भागों में विकसित होकर उपनिषदों में आकर अंकुरित और पल्लवित हुआ है। पुराणों में वह शाखा-प्रशाखा युक्त, फूल-फल से समृद्ध महावृक्ष के रूप में परिणत होता है। "यदि कोई छः वेदांगों का एवं समस्त उपनिषदों सहित चारों वेदों से अवगत हो और पुराणशास्त्रों में पारदर्शी न हो तो वह विचक्षण नहीं कहला सकता।"[43] भारतीय आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में कर्म, ज्ञान और भक्ति मुक्ति के त्रिविध साधन के रूप में माने जाते हैं। साधक अपनी-अपनी रुचि के अनुसार किसी एक का आश्रय लेकर भक्ति के पथ पर आगे बढ़ता है। "पुराणों में भक्ति योग के रूप में विशेष जोर दिया गया है, क्योंकि यह मनुष्य के लिए तत्काल कारक है, तथा भक्तिमार्ग का अनुसरण ब्राह्मण-शूद्र, नर-नारी सभी निर्विशेष रूप से सहज ही कर सकते हैं।"[44] भगवान कृष्ण ने उपदेश देते हुए उद्धव को कहा है-

"यत कर्मभिपेत तपसा ज्ञानवैराग्यतश्चायत्
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि।
सर्वं मद्भक्तियोगेन मभ्दक्तो लभेतऽज्जस"[45]

अर्थात् कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, धर्म तथा तीर्थयात्रा, व्रत आदि अन्य साधनों के द्वारा जो प्राप्त होता है, वह मेरे भक्त भक्ति योग से अनायास प्राप्त कर लेते हैं। वैदिक युग एवं उपनिषद युग तक भक्ति एक निश्चित वर्ग तक ही सीमित रही थी, किन्तु पुराणों में भक्ति का अधिकार सबको मिला।

पुराणों में कहा गया है कि-

"चाण्डालोऽपि मुनिश्रेष्ठ विष्णुभक्तो द्विजाधिकः
विष्णुभक्ति विहीनश्च द्विजोऽपि श्वपचाधिकः॥"[46]

भक्ति द्वारा चांडाल भी ब्राह्मण से बढ़कर हो जाता है और ईश्वर-भक्ति-विहीन ब्राह्मण भी चांडाल से अधम हो सकता है। पुराणों का प्रधान गौरव यही है कि वेद ने नेति-नेति कहकर जिस परम तत्व को इन्द्रिय, मन, बुद्धि के अगम्य देश में रख दिया है तथा जो केवल उच्चाधिकारी ज्ञानी साधकों के ही ध्यानगम्य है, पुराणों ने उसी तथ्य को भक्तिमार्ग की साधना के द्वारा भक्तजनों की सारी इन्द्रियों को दिव्यशक्ति का अनुभव कराया है। पुराणों के भगवान केवल निर्गुण, निर्विकार, अद्वितीय ही नहीं हैं, किन्तु प्रत्यक्ष उपास्य, भक्त के अराध्य, प्रेम की मूर्ति, सौंदर्य-माधुर्य निकेतन तथा कल्याण गुणों के आकार हैं। वे परमात्मा होते हुए भी पतित पावन, शरणागत हैं।

पुराण घोषणा करता है कि ज्ञानमार्ग में निर्गुण ब्रह्म की उपासना देहाभिमानी जीव के लिए अत्यन्त कष्टसाध्य है और सगुण की उपासना साधारण जीव के लिए सहज ही साध्य है। इसी कारण पुराण इस प्रकार की उपासना के ऊपर विशेष जोर दते हैं। इसलिए 'पद्मपुराण' में कहा है-

"सगुणोपासनाभिस्तु चितैकाग्र्यं विधायच।
स्थूलसौराम्भिकान्यायात् तत्र चित्तं प्रवर्त्तयेत्॥"[47]

यहाँ शंकर राम को कहते हैं-पहले सगुण उपासना के द्वारा चित्त की एकाग्रता का साधन करके स्थूलसौराम्भिका न्याय के अनुसार मेरे निर्गुण स्वरूप में चित्त को लगायें।

## पुराणों में प्रतीकोपासना और क्रियायोग :

वैदिक युग के याग-यज्ञ और उपनिषद के ध्यान-धारणा के स्थान में पौराणकि युग में सर्वसाधारण के लिए उपयोगी एक नवीन उपासना पद्धति प्रचलित हुई। प्रतिमाओं के देवताओं के आविर्भाव की भावना करके उसे पाद्य, अर्घ्य, धूप, दीप, गंध, पुष्प और नैवेद्य आदि के द्वारा अर्चना करने की विधि प्रचलित हुई। पुराणों में भक्तिमार्ग की साधना के अन्तर्गत देवताओं की उपासना के लिए जो क्रियायोग प्रवर्तित हुआ है, तदनुसार भक्त प्रतिमा के माध्यम से भगवान की सेवा करता है, भोग लगाता है, वार्तालाप करता है। इस क्रियायोग के विधान के अनुसार देवता का मंदिर-निर्माण, पूजा-अर्चन आदि करने पर भक्त भक्ति और मुक्ति-दोनों ही प्राप्त कर सकता है।

## पुराणों में अवतारवाद :

अवतारवाद पुराणों का एक प्रधान अंग है। पुराण विश्वातीत ब्रह्म को मृत्युलोक की भूमि पर खींच लाये हैं और भगवान को मनुष्य के बीज में पुत्र, भ्राता, सखा, गुरु एवं प्रभु रूप में अवतरित करके मानव और भगवान की दूरी को दूर किया है और मानव को एक उच्च भूमिका में प्रतिष्ठित कर दिया है। यह पुराणों की सब से बड़ी देन है। वैसे तो अवतारवाद की सूचना वैदिक ग्रंथों में भी दिखाई देती है-

"इंद्रं विष्णुर्विच क्रमेत्रेधा निदधे पदम।"[48]

पुराणों के अनुसार भगवान भक्त के प्रति अनुग्रह प्रकट करने के लिए ही मनुष्य के रूप में अवतार धारण करके विविध प्रकार की लीलायें करते हैं। जब-जब साधक ने भगवान को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न नाम से और विभिन्न रूप में प्रभु को पुकारा है, तब प्रभु प्रकट हुए हैं। पुराणों ने विष्णु और शिव की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि यह एक ही परम तत्व के त्रिविध प्रकाश हैं तथा स्वरूपतः अभिन्न हैं।

"सत्व, रजस और तमस-इन त्रिगुणों को ही शरीररूप में धारण करनेवाले पुरुष को कोई ब्रह्मा, कोई विष्णु कोई शंकर के नाम से पुकारते हैं। फलतः एक ही सर्वव्यापी पुरुष त्रिविधरूप से सृष्टि, स्थिति और संहार करता है।"[49] विष्णु पुराण का भी संकेत यही है कि ईश्वर एक है और एक ही ईश्वर के तीन रूप-ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं। पुराणों में प्रतीकोपासना के साथ-साथ ऐकेश्वरवाद के भी दर्शन होते हैं।

## (घ) श्रीमद्भागवत में भक्ति का स्वरूप :

श्रीमद्भागवत भक्ति का अद्वितीय ग्रंथ है, यह बात समस्त विद्वानों ने स्वीकार की है। भक्ति तत्व का विस्तार पूर्वक विवेचन इस ग्रंथ में हुआ है। वेदव्यास ने कहा है-

"श्रृण्वन् शुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसंग।"[50]

भगवान के जन्म और लीलाओं की अनेक कथायें इस संसार में प्रसिद्ध हैं। इन कथाओं को सदैव सुनते रहना भक्त का कर्म है। भगवान के गुणों एवं लीलाओं का स्मरण दिलाने वाले बहुत से नाम प्रसिद्ध हैं। किसी भी प्रकार का संकोच न रखते हुए भक्त की लीला का गान करना चाहिए। भागवत में भक्त के उत्तम, मध्यम और अधम तीन भेद बताये गए हैं। सर्व आत्मा में भगवान के दर्शन करनेवाला भक्त उत्तम है और जो केवल प्रभु की मूर्ति की श्रद्धा से पूजा करे वो मध्यम और मानवमात्र में प्रभु के दर्शन न करे वो अधम है। अतः भागवत में मूर्तिपूजा को अधिक महत्व नहीं दिया गया है। चित्त-शुद्धि के साधन के रूप में मूर्ति का पूजन, वंदन, दर्शन, स्तुति आदि हुआ है।

वराह, वामन, कपिल, नरसिंह, ऋषभदेव आदि भगवान विष्णु के अवतारों की कथाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं का विस्तार से वर्णन

भागवतकार ने किया है। गोपियों के प्रेम की अधिकता और उद्धव की स्पृहणीयता में से भक्तिमार्ग के जारभाव और गोपीभाव का उद्‌भव हुआ। भावगत का एक सिद्धांत यह भी है कि भक्तिप्राप्त पुरुष के लिए कोई भी साधन और साध्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। गीता में श्रीकृष्ण, अर्जुन संवाद है, ऐसे ही भागवत में उद्धव संवाद है। भागवत में भक्ति को प्रमुख और ज्ञान, कर्म, योग आदि को गौण माना गया है। भागवत में कहा गया है कि-

"मत्कथा श्रवणें श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धाव।
सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम्॥"[51]

अर्थात् भक्त का धर्म है कि वह भगवान की कथा सुनने में श्रद्धा रखे और प्रभु का निरंतर ध्यान करे, जो कुछ मिले उसे प्रभु को समर्पित कर दे, और दास्यभाव से उन्हें आत्मनिवेदन करे। भागवत के भक्त ने अपने आराध्य को रिझाने के लिए हँसते-हँसते, कभी रोते-रोते तो कभी मधुर स्वर में प्रभु के गुणों का गान किया है। भागवतकार ने विष्णु और वासुदेव कृष्ण का एकीकरण किया है। यहाँ वासुदेव कहते हैं- जो कर्म से, तप से, ज्ञान से, वैराग्य से, भोग से, दान से और दूसरे साधन से प्राप्त होता है वह सब मेरी भक्ति के योग से मेरा भक्त तुरन्त ही प्राप्त कर सकता है।

## (च) गीता में भक्ति का स्वरूप :

गीता समस्त शास्त्रों का सार है, महाभारत के भीष्मपर्व में वेदव्यासजी ने कहा है-

"गीता सुगीता कर्तव्यकिमन्ये : साश्त्र संग्रहे :।
य स्वयं पद्‌मनाभस्य मुखपद्‌माय् विनिस्सृता॥
सर्व शास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरि :।
सर्व तीर्थमयी गंगा सर्ववेदमयो मनु :॥"[52]

व्याससजी का कहना है केवल गीता का ही भली-भाँति अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि गीता स्वयं श्री प्रभु के मुख से ही

प्रकट हुई है। सर्वशास्त्रों का सार गीता है और प्रभु का प्रसाद है, भक्तिभावना से ओत-प्रोत है। इसलिए 'भक्तियोग' के नाम से गीता का एक अध्याय प्रसिद्ध है। गीता
में भगवान ने भक्ति की महिमा का गान करते हुए कहा है-जो भक्त मुझे जिस प्रकार से भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार से भजता हूँ-

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तस्तयैव भजाम्यहम्।"[53]

और गीता में भगवान ने यह भी कहा है-

"परित्राणाय साधूनां विनाशायच दृष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भावामि युगे-युगे॥"[54]

मेरी भक्ति करनेवाले मेरे साधक को परित्राण करने के लिए मैं हर युग में अवतार धारण करता हूँ। भगवान ने गीता में ज्ञानयोग प्रकरण में भी भक्ति की आवश्यकता बतायी है और जगह-जगह पर शरणागति का भी महत्व बताया है। इस प्रकार गीता में भी भक्ति का बड़ा व्यापक वर्णन हुआ है।

## (छ) अन्य आयामों द्वारा भक्ति का उत्थान :

भक्ति का जन्म अत्यंत प्राचीन काल में हुआ है, किन्तु भक्ति का पुनरुत्थान मध्ययुग में ही हुआ है। संप्रदायों का प्रवाह द्रविड़ देश से शुरु हुआ और पोषण वृन्दावन में हुआ। "ताम्रपाणी, कृतमाला, पयस्चन, कावेरी आदि नदियों के प्रदेश में रामानुज के जन्म से पहले जो द्रविड़ भक्त हुए वह आलवार कहलाये।"[55] इन आलवार भक्तों और पुष्टिमार्गी आचार्यों ने भक्ति के विकास में विशिष्ट योगदान दिया है। वेद, उपनिषद, पुराण आदि में प्रतिपादित भक्ति का स्वरूप, भक्ति की विचारधारा समय और परिस्थिति के साथ परिवर्तित हुई, भक्ति की नयी विचारधारा और नये स्वरूप की जरूरत समाज में पैदा हुई। "ईसा की चौदहवीं शताब्दी में भारत के श्रेष्ठ ग्रंथों और दर्शन शास्त्र विलीयमान से हो गये, यहाँ तक कि पुराण

भी लोगों की आवश्यकता की पूर्ति न कर सके, ऐसी दशा में भक्ति का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। भक्तिरस के इस प्रवाह से भगवान के विशेषकर श्रीकृष्ण के प्रति भक्तिभाव विशेष रूप में विकसित होने लगा।"[56]

कर्मकांडीय साधना मार्ग से साधक ऊब गये थे और ऐसे स्वरूप की, ऐसे साधना मार्ग की आवश्यकता पैदा हुई जो सहज साध्य हो और ऐसे साधना मार्ग के पथदर्शक बने वैष्णवभक्त। "वैष्णव साधकों और विचारकों ने भक्ति को भावदशा से ऊपर उठाकर रसदशा में स्थापित किया और भक्ति रस को सर्वश्रेष्ठ रस निर्धारित किया।"[57] भक्तों को भक्तिरस का रसास्वाद कराने वाले वैष्णव आचार्यों ने भक्ति का सुंदर विवेचन और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अपने ग्रंथों में करके भक्ति के विकास में अपना योगदान दिया है। "आलवार भक्तों, वैष्णव भक्तों एवं आचार्यों और विभिन्न संप्रदायों के प्रणेता संतों ने अपनी प्रादेशिक भाषाओं में और बोलियों में भक्ति के गूढ़ ज्ञान को सरल शब्दों में समाज के सामने रखा और लोगों ने तुरन्त ही इसे पकड़ लिया।"[58] भक्ति के विकास में यह प्रवृत्ति विशेष महत्वपूर्ण सिद्ध हुई।

## (1) भक्ति के विकास में भक्ति आंदोलन का महत्व :

समग्र भारतवर्ष में प्रद्रहवीं शताब्दी के आस-पास प्राचीन धार्मिक रूढ़ियों का विरोध करते हुए सामाजिक न्याय की मांग करता हुआ भक्ति आंदोलन चला, जो भक्ति के विकास में विशेष उल्लेखनीय है। भक्ति आंदोलन से पूर्व की स्थिति को देखा जाये तो उत्तर भारत को विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करना पड़ता था। इस क्षेत्र में समाज में ऊँच-नीच का भेद-भाव था। यहाँ सामाजिक अन्याय का विरोध निम्न वर्ग कर रहा था। मुस्लिम बादशाह सत्ता के प्रभाव से इस्लाम का प्रचार-

प्रसार करने में प्रवृत्त थे, इसलिए समाज में धर्म-परिवर्तन हो रहा था। हिन्दू समाज का उपेक्षित वर्ग शायद इस्लाम को अंगीकार कर ले-ऐसा भय हिन्दुओं को सता रहा था।

दक्षिण भारत की परिस्थिति कुछ अलग थी। यहां सामंती व्यवस्था का प्रभाव अधिक था। हिन्दू धर्म में एक निश्चित वर्ग का ही धर्म पर अधिकार था। धर्म के ठेकेदार सामान्य वर्ग को तिरस्कृत करता रहता था और उनकी छाया से भी दूर रहते थे-ऐसा जातिभेद समाज में चरम सीमा तक पहुँचा था। एक तरफ बादशाहों की धर्म-परिवर्तन की प्रवृत्ति से समाज को बचाने के लिए और धर्म की आड़ में जो समाज का शोषण हो रहा था, उसके विरोध में भक्ति आंदोलन का जन्म हुआ। भक्ति-आंदोलन मानवमात्र की समानता का सदेश लेकर सामने आया, समाज के कुंठित, पीड़ित वर्ग की कुंठाओं और पीड़ाओं को समझकर उसे दूर करने का मार्ग बताया, भारतीय संस्कृति को उदार रूप में प्रस्तुत करके हिन्दू धर्म को टूटने से रोका और असंतुष्टों की विद्रोही मानसिकता को शांत किया।

विद्वानों का एक अनुमान है कि हिन्दूधर्म ने भक्ति का यह जनवादी रूप प्रस्तुत न किया होता तो हिन्दू समाज का एक बड़ा वर्ग इस्लामधर्म को स्वीकार कर लेता। कारण कोई भी हो, किन्तु यह बात स्वीकार्य है कि भक्ति आंदोलन से भारतीय जन-समाज में भक्ति की एक नयी लहर छा गयी।

कर्मकांड को मुक्ति का साधन माननेवाला 'कुमारिलभट्ट' का आंदोलन और शंकराचार्यजी का अद्वैतावाद-इन दोनों विचारधाराओं से भारतीय जनसमुदाय संतुष्ट नहीं हुआ। इस समय जनसमुदाय का समाधान कर सके-ऐसी सरल और सहजसाध्य स्पष्ट विचारधारा लेकर रामानुजाचार्य, विष्णुस्वामी, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य आदि आये और उन्होंने विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत आदि मतों का प्रचार-प्रसार समग्र भारत में किया।



Th-243

## (2) भक्ति के विकास में आलवार भक्तों का योगदान :

भक्ति के विकास के संदर्भ में वैष्णव-भक्ति के विकास में आलवार भक्तों ने विशेष उल्लेखनीय योगदान दिया है। "आलवार शब्द तमिल भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है-भगवद्भक्ति-रस में लीन व्यक्ति"।[59] दक्षिण भारत में जो आलवार भक्त हुए उनमें "सात ब्राह्मण, एक स्त्रीभक्त, और दो शूद्र, एक क्षत्रिय और एक पनार जाति का भक्त था।"[60] स्त्री पुरुष और विभिन्न वर्णों के भक्तों के उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि भागवत धर्म में वर्णभेद को कोई स्थान नहीं है। आलवार भक्तों ने तमिल भाषा में काव्यरचना करके कृष्णभक्ति को प्राधान्य दिया है और उन्होंने अपने ग्रंथों में कृष्णलीला का सुंदर भाव-भक्तिमय वर्णन किया है। आलवार संत-भक्त अद्वैत दर्शन को भक्ति के मार्ग में बाधक मानते हैं। इसलिए आलवारों ने मायावाद का खंडन किया है। आलवार भक्तों के विभिन्न वर्णों का होना एक दृष्टांत समान है। ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, स्त्री-पुरुष, आबाल-वृद्ध किसी भी प्रकार का भेद न रखकर ब्रह्म की साधना में आलवार प्रवृत्त थे। वेद-मंत्रों के समान पवित्र और मधुर, भावों से ओत-प्रोत भक्ति की अनुभूतियों का द्रविड भाषा द्वारा मानव समुदाय को भक्ति का रसास्वाद कराने का कार्य आलवार भक्तों ने किया और प्रभावक ढंग से वैष्णव भक्ति का प्रचार एवं प्रसार किया। आलवार भक्तों में विशेष रूप से उल्लेखनीय नाम हैं- पोयंगआलवार, भूतत्तालवार, पायालवार, शठकोप, मधुरकवि, कुलशेखर, विष्णुचित्त, गोदा, विप्रनारायण, मनिवाहन, तिरुप्पन, निलम आदि।

## (3) भक्ति के विकास में वैष्णव आचार्यों का योगदान :

आलवार भक्तों के साथ-साथ वैष्णव आचार्यों का नाम भी भक्ति की विकास-यात्रा में बड़े आदर के साथ लिया जाता है। आचार्य युग के भक्तों ने अर्थात् वैष्णव आचार्यों ने तर्क तथा युक्ति के द्वारा भक्ति की महत्ता और जीवन के लिए उपयोगिता प्रमाणित की, उन्होंने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को अधिक महत्व दिया और कहा कि जनता के लिए भक्ति का मार्ग सरल है, सुगम है और मायावाद का खंडन किया। आचार्यो में बुद्धि पक्ष की दृढ़ता के कारण तर्क एवं युक्ति के द्वारा अपनी बात को प्रस्तुत करने की क्षमता थी और वेदांत की परंपरागत विद्वता भी थी। श्री रंगनाथचार्य, श्रीयमुनाचार्य और श्री रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतमत को जन्म दिया और रामाजुजाचार्य ने भक्ति में प्रेम को महत्व देते हुए ध्यान एवं उपासना को अधिक महत्व दिया। विद्वान वैष्णव आचार्यों ने अपने मतानुसार विभिन्न वादों को जन्म दिया और वैष्णवभक्ति का विकास किया।

## (अ) रामानुज संप्रदाय :

रामानुजाचार्य ने श्री संप्रदाय की स्थापना की और विशिष्टाद्वैतमत की स्थापना के द्वारा वैष्णव मत को देशव्यापी बनाने का यश रामानुज को मिलता है। इस संप्रदाय की आचार्य-परंपरा में सर्वप्रथम आचार्य भगवान श्रीनारायण माने जाते हैं। "आचार्य श्रीरामानुज अभेद-प्रतिपादक एवं भेदप्रतिपादक तथा निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म को प्रतिपादित कर देना ही एक प्रकार की श्रुतियों को सत्य और प्रमाण मानते हैं। अभेद और भेद का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों में परस्पर विरोध नहीं मानते"।[61] रामानुजाचार्य के मत से ब्रह्म स्थूल-सूक्ष्म चेतनाविशिष्ट पुरुषोत्तम हैं, वे सगुण और सविशेष है, ब्रह्म की शक्ति माया हैं, ब्रह्म अशेष कल्याणकारी हैं। जगत जड़ है, ब्रह्म और जीव दोनों ही चेतन हैं, प्रत्येक शरीर में जीव भिन्न-भिन्न है, उपाधिवश जीव संसार भोग को प्राप्त होता है। उन्होंने जीव के पाँच भेद बताये हैं-

"नित्य, मुक्त, केवल, मुमुक्षु और बद्ध आदि।"[62] जीव के पाँच प्रकारों की चर्चा करनेवाले 'रामानुजाचार्य' ने ईश्वर के पाँच स्वरूप को स्वीकारा है, "पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यमी और अर्चा आदि"।[63] ऐसे भगवान के दासत्व की प्राप्ति ही मुक्ति है। रामानुजाचार्य ने फिर मुक्ति के पाँच भेद बताये हैं-"कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, प्रपत्तियोग और आचार्याभिमानयोग आदि।"[64] रामानुज केवल ज्ञान से मुक्ति मिलती है-ऐसा नहीं मानते। उनका कहना है कि भक्ति से ही दयामय भगवान प्रसन्न होकर मुक्ति प्रदान करते हैं।

इस प्रकार की अपनी विचारधारा का प्रचार करते हुए रामानुजाचार्य ने शंकराचार्य के मायावाद का खंडन किया, दक्षिण में इस संप्रदाय को विशेष आदर-सत्कार मिला "रामानुजाचार्य के अनुयायियों में 'वदगलई और तेनगलई' दो वर्ग हैं।"[65] रामानुजाचार्य ने 'द्रविड़भाष्य, न्यायतत्व, वेदर्भ संग्रह, भाष्यविवरण, तत्वदीप आदि ग्रंथों की रचना की है, और श्रीरंग, वेंकटाचल, काँची आदि स्थानों पर मंदिर निर्माण करके वैष्णव भक्ति का प्रचार किया और चित्तत्व और अचित् तत्व दोनों को ईश्वर के शरीर के रूप में स्वीकार किया और अपने साधकों को इसी मार्ग पर चलने का आदेश दिया।

## (आ) निम्बार्क संप्रदाय :

निम्बार्काचार्य ने अद्वैतवाद का विरोध करते हुए, द्वैताद्वैतवाद की स्थापना की और वैष्णव साधकों को परम मोक्ष की प्राप्ति कराने के लिए ब्रह्म की साधना प्रवर्तित की, निम्बार्कमत वैष्णवमतों में सबसे प्राचीन मत माना जाता है। "निम्बार्कमत के प्रथम उपदेष्टा हंसावतार भगवान हैं। इस हंसावतार के शिष्य सनतकुमार हैं, जिन्होंने इसका उपदेश महर्षि को दिया, नारदजी से यह उपदेश निम्बार्क को प्राप्त हुआ, इन्हीं परंपराओं के कारण यह संप्रदाय हंस संप्रदाय, सनकादि

संप्रदाय, देवर्षिसंप्रदाय आदि नाम से प्रसिद्ध है।"[66] निम्बार्काचार्य ने 'पारिजात सौरभ, 'दशश्लोकी', 'श्रीकृष्णस्तवराज', 'मंत्ररहस्यषोडशी', 'प्रपन्न कल्पवल्ली' आदि ग्रंथों की रचना की।

आचार्य निम्बार्क का मानना है कि-"अमूर्त्त मूल स्वरूप की उपासना की अपेक्षा प्रकाशित मूर्त्त रूप की उपासना ही जीव के लिए अधिक प्रशस्त है।"[67] इसलिए उन्होंने भगवान की उपासना को ही प्रमुख रूप से ग्रहण किया है, और राधा-कृष्ण की उपासना की। इस संप्रदाय के आचार्यों ने अपनी भावाभिव्यक्ति संस्कृत के माध्यम से की। भगवान श्रीकृषण की शरणागति स्वीकारते हुए निम्बार्क स्वामी कहते हैं-

"नान्या गतिः कृष्ण पदारविन्दात्
सदस्य ते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छा योयेत्सु चिन्त्यविग्रह
दचिन्त्य शक्तेरवि चिन्त्य शासनात॥"[68]

अर्थात् भक्तों की इच्छा से जिन्होंने मनोहर विग्रह धारण किया, जिनकी शक्ति की इयत्ता नहीं, उस अचिन्त्य जगत् के शास्त्रों, श्रीकृष्ण के ब्रह्मा, शिव आदि के द्वारा वन्दित चरण कमल के सिवा जिनकी अन्य कोई गति दृष्टिगोचर नहीं होती। यहाँ उन्होंने अपने साधक को विश्वास दिलाने का प्रयास किया है कि हमारे आराध्य अत्यंत समर्थ हैं, हम ऐसे आराध्य की शरण में हैं जिनकी पूजा ब्रह्मा और शंकर करते हैं। निम्बार्कमत के आचार्यों ने खंडन-मंडन की प्रवृत्ति की ओर उतना ध्यान नहीं दिया, जितना ध्यान उन्होंने भजन-कीर्तन की ओर दिया।

इस प्रकार निम्बार्काचार्य ने जीव, जगत और ईश्वर की भिन्नता को स्वीकार किया है, किन्तु जगत का अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर ही आधारित है और ईश्वर की कृपा से ही जीवात्मा को अपनी प्रवृत्ति का ज्ञान होता है। इसी विचारधारा को लेकर भक्ति-प्रवाह में अपनी एक नवीन विचारधारा को लेकर प्रवाहित की और भक्ति के विकास में अपना योगदान देते हुए, भारत में और खास करके उत्तर भारत में मथुरा प्रदेश एवं

गुजरात में अनेक स्थानों पर मठों की स्थापना करके भक्ति जगत में राधा-कृष्ण के स्वरूप की युगल-पूजा को महत्व दिया।

## (इ) माध्व संप्रदाय :

मध्वाचार्य दक्षिण भारत के तीन प्रसिद्ध मत प्रवर्तकों में एक थे। उन्होंने जो मत प्रतिपादित किया वह 'श्रीमाध्वसिद्धान्त' के नाम से प्रचलित हुआ। इस संप्रदाय के आचर्यों ने लक्ष्मीनारायण को आराध्यदेव माना है। "श्रीमध्वाचार्य ने 37 ग्रंथ लिखे हैं जिनमें गीताभाष्य, दषोपनिषद्भाष्य, ब्रह्मसूत्रतात्पर्य-बोधक, अनुख्यान, ब्रह्मसूत्र-अणुभाष्य, भागवत भारतगीता तात्पर्य निर्णय, श्रीकृष्णामृत-महार्णव"[69] आदि प्रमुख हैं।

मध्वाचार्यजी का मानना था कि श्रीहरि ही सार्वोत्तम हैं, जगत सत्य है, जीव हरि के सेवक हैं, उसमें परस्पर तारतम्य का क्रम है। जीव का स्वरूपगत सुखानुभव ही मोक्ष है, हरि की निर्मल भक्ति ही उस मोक्ष का साधन है, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम ये तीन उसके प्रमाण हैं। श्री हरि का स्वरूप वेद आदि सर्वशास्त्रों से जाना जा सकता है। मध्वाचार्यजी ने भी सगुण ब्रह्म का स्वीकार किया और संसार क पाँच भेद बताये हैं-

(1) ईश्वर तथा जीव भेद
(2) ईश्वर तथा जड़ जगत का भेद
(3) जीव तथा जगत का भेद
(4) जीव और जीव का भेद
(5) जड़ और जड़ का भेद

माध्वसंप्रदाय का मत है कि ज्ञान के बिना भक्ति कहाँ और बिना भक्ति के ज्ञान कैसा? ज्ञानपूर्वक की भक्ति ही मोक्ष का साधन है। इस संप्रदाय के आचार्यो का मानना है कि जीव के स्वरूप पर जो अज्ञान का आवरण पड़ा रहता है उसी

आवरण को मोक्ष-प्राप्ति के लिए वायुदेव की गदा के प्रहार से दूर करना पड़ता है। तब जाके जीव के स्वरूप का आविर्भाव होगा, यही मोक्ष कहलायेगा। परिवारजनों के प्रति जो प्रेम है, उससे अधिक भगवान के प्रति प्रेम रखना ही भक्ति है। इस संप्रदाय का मानना है कि परमात्मा श्री हरि अंतर्यामी के रूप में स्थित हैं, सबके प्रेरक वही हैं, सबके माता-पिता वही हैं, इसलिए श्री हरि के परिवाररूप जीवमात्र प्रेम रखने के बाद ही हम भगवान के कृपापात्र बन सकते हैं।

इसी विचारधारा को अपनाकर इस संप्रदाय के आचार्य-भक्तों ने भगवान लक्ष्मी नारायण के चरण-कमलों में बड़े नम्र भाव से मस्तक रखकर श्री हरि की सर्वोतमत्ता का स्वीकार किया और वैष्णव-भक्ति में अपना मत प्रकट किया।

## (ई) रुद्र संप्रदाय :

रुद्र-संप्रदाय के प्रणेता विष्णु स्वामी हैं। निम्बार्क संप्रदाय और माध्वसंप्रदाय का जितना प्रचार-प्रसार हुआ, उतना प्रचार-प्रसार रुद्र-संप्रदाय का नहीं हो पाया। बाद में आचार्य वल्लभ ने इसे लोकप्रिय बनाकर इसका प्रचार किया। विष्णुस्वामी द्वारा प्रवर्तित 'सुद्धाद्वैत' विचारधारा भक्ति के विकास में विशेष महत्व रखती है। इस मत के आचार्यों का मानना है कि- "ब्रह्मसच्चिदानंद स्वरूप हैं और अपनी अविद्या द्वारा जीव क्लेश पाता है, वह आनंद प्राप्त करने का अधिकारी है और दुःख भी भोगा करता है, अतः ईश्वर और जीव में स्पष्ट भेद है।"[70] यहाँ परमेश्वर की परम सत्ता का स्वीकार करके जीवात्मा की पामरता की चर्चा इस संप्रदाय में हुई है। जीव अज्ञानता के कारण यहाँ-वहाँ भटकता है, दुःखी होता है। इस संप्रदाय के विकास में वल्लभाचार्य का योगदान महत्वपूर्ण रहा है।

इस प्रकार आचार्ययुग में रामानुजाचार्य के वैष्णव संप्रदाय के साथ-साथ निम्बाकाचार्य की गोपाल भक्ति, श्री

मध्वाचार्य की पुरूषोत्तम विष्णु भक्ति और श्री विष्णु स्वामी की नरसिंह भक्ति के द्वारा भक्ति संप्रदाय की भव्य इमारत का निर्माण हुआ और थोड़े ही समय में श्री रंगम, कांची, तिरूपति आदि स्थान इसी संप्रदाय के केन्द्र बने और समग्र दक्षिण भारत विष्णु-भक्ति से गुंजित हो उठा। बाद में समग्र भारत में उसका प्रचार-प्रसार हुआ। अनेक अचार्यों द्वारा प्रतिपादित विष्णु के चार स्वरूप को आराध्य के रूप में स्थापित करके, वैष्णव भक्ति का साहित्य सर्जन हुआ। भगवान के चार स्वरूप और भक्ति-केन्द्र इस प्रकार हैं-

(1) राम- अयोध्या, चित्रकूट, नासिक।

(2) कृष्ण-मथुरा, वृंदावन, गोकुल, नाथद्वारा, द्वारका।

(3) जगन्नाथ-पुरी और बद्रीनाथ।

(4) विठोबा- पंडरपुर, कांजीवरम्।

इस प्रकार वैदिक भक्ति का स्वरूप धीरे-धीरे मानव-जीवन के प्रवाह के साथ परिवर्तित होता रहा। संस्कृति के विकास के साथ भक्ति प्रवाह विकसित होता रहा। आचार्ययुग के बाद भक्ति में जाति-पाँति, ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष आदि का भेद नहीं रहा, इसलिए किसी ने गा करके, किसी ने बजा करके, तो किसी ने नृत्य करके प्रभु को रिझाने का प्रयास किया है। उनका उद्देश्य विभिन्न तरीकों से ईश्वर को प्रसन्न करना रहा है।

## (4) भक्ति के विकास में संतों का योगदान :

भारतीय संस्कृति में संतों का विशेष महत्व है। हमारे संत कवि थे, चित्रकार थे, शिल्पकार थे। उन्होंने अपनी भक्तिभावना को अपनी कलाकृतियों में अंकित करने का प्रयास किया है। संतों के द्वारा कोई भी बात समाज में बड़ी सरलता से फैल जाती थी, कारण, संतों के उपदेश की भाषा एवं शैली

सरल थी। संस्कृत के आचार्यों की बात समाज के उच्च वर्ग एवं शिष्ट वर्ग तक ही सीमित रह जाती थी।

समाज में तिरस्कृत, पतित, दलित जातियों के संतों ने अपने समाज को कहा कि परमात्मा केवल उच्च जाति के ही नहीं हैं, हम सब के हैं, प्रभु स्त्री एवं पुरुष दोनों का हैं, धनवान-गरीब सबके हैं। पापी मानव भी पश्चाताप करके प्रभु की कृपा का पात्र बन सकता है। इस प्रकार संतों ने समाज के निम्नवर्ग को प्रभु-प्राप्ति का मार्ग बताया। भागवतकार का स्वप्न था कि- "स्त्री, शूद्र, हूण, शबर-जो पापी माने जाते हैं, उनको भी प्रभु की महिमा का ज्ञान है।"[71] इस स्वप्न को संतो ने सार्थक किया है। समग्र देश अज्ञान और दंभ से घिरा हुआ था तब संतों ने भक्तिरूपी संजीवनी से धर्म और संस्कृति की रक्षा की, संस्कृति के ऐसे रक्षक प्रमुख संतों के योगदान की चर्चा करेंगे।

## (अ) रामानंद :

'रामानंद स्वामी' विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य 'रामानुज' के शिष्य थे और वे ब्राह्मण जाति में पैदा हुए थे। उन्होंने भागवत संप्रदाय के तत्वज्ञान को नया रूप देकर अपनी शैली में जनसमाज में प्रचलित किया। रामानंद शिष्यों के साथ देशाटन करते थे। कहा जाता है कि रामानंद को किसी कारणवश संप्रदाय से बाहर कर दिया गया था। इसके बाद वो काशी आये। उन्होंने वर्णभेद और मूर्तिपूजा का विरोध किया और सत्संग को प्राधान्य दिया। उन्होंने जो सिद्धांत दिया उससे निर्गुण और सगुण ब्रह्म की दो धारायें प्रकट हुईं। बाद में इन दो धाराओं को संत कबीर एवं महात्मा तुलसीदास ने आगे बढ़ाया। रामानंद के शिष्य बड़े उदारमतवादी, क्रांतिकारी और प्रतिभावान कवि थे, जिनमें 'कबीर'का नाम प्रमुख है। "रामानंद के बारह प्रमुख शिष्य थे- अनन्तदास, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानिन्द, भवानन्द, पीपा, कबीर, सेन, घना, रैदास, पदमवती और सुरसरी आदि।"[72]

रामानंद के शिष्यों ने रामानंदजी के आदर्शों को आगे बढ़ाया और ईश्वर शरण और भक्तिमार्ग को इष्ट माना। रामनंदजी ने "ब्रह्मसूत्र एवं गीता आदि पर भाष्य लिखे हैं, उनके मठ काशी और अयोध्या में हैं।"[73] रामानंदी शिष्य-परंपरा में रैदासपंथ और सेनापंथ दो प्रमुख हैं।

## (आ) कबीरदास :

कबीर ने रामानंद द्वारा संस्थापित आदर्शों को भक्ति और साहित्य के क्षेत्र में सुवर्ण अक्षरों में अंकित कर दिया है। हिन्दू-मुस्लिम एकता के महान प्रचारक के रूप में कबीर का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। कबीर निर्गुणवादी होते हुए भी रामानंद के शिष्य थे, यहाँ गुरु की उदारवादी नीति का परिचय होता है। कबीर ने सगुण भक्ति का विरोध करके राम के निर्गुण रूप को स्वीकार किया है। कबीर प्राचीन मान्यताओं, परंपराओं, बाह्याडंबर आदि का बड़ा विरोध करके समाज को जागृत करने का प्रयास करते हैं। वे जाति-पाँति का विरोध करते हुए कहते हैं-

"जाति-पाँति पूछे न कोई, हरि को भजे सो हरि का होई"।

कबीर ने गुरु-महिमा खूब गायी है-

"गुरु बिन ज्ञान न उपजे, गुरु बिन मिले न मोक्ष
गुरु बिन लेखन सत्य जो, गुरु बिन मिटे न दोष।"[74]

कबीर ने परमात्मा को 'शब्द' कहा। उनके पदों में दास्य भाव के दर्शन होते हैं। "संस्कृत कूप जल कबीरा, भाषा बहता नीर"- कहकर कबीर ने लोक बोली में अपने विचारों को व्यक्त किया। कबीर की बानी 'गुरुग्रंथ साहिब' नामक ग्रंथ में संग्रहित है। उस युग में परंपराओं, मान्यताओं, बाह्याचार आदि का विरोध करने की हिम्मत कबीर के अलावा कोई नहीं कर सकता था। कबीर की विचारधारा से समाज को एक नयी दृष्टि और शक्ति मिली। कबीर अपने समय के बड़े प्रगतिशील कवि थे जिन्होंने भक्ति के क्षेत्र में ऊंच-नीच, छोटे-बड़े का भेद मिटा दिया था, इसी कारण वे सबसे विद्रोही और क्रांतिकारी माने गए।

भक्तिकाल के कवियों में आज भी कबीर अपनी इन्हीं विशिष्टताओं के चलते सबसे अधिक प्रासंगिक हैं।

## (इ) तुलसीदास :

तुलसीदास का नाम एक महान युगप्रवर्तक के रूप में अंकित है। रूढ़ि और रोग से गस्त समाज को सही दिशा देने का प्रयास तुलसी ने किया और रामभक्ति का विशद साहित्य समाज को दिया। आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी ने तुलसी का परिचय देते हुए कहा है-"यद्यपि स्वामी रामानंदजी की शिष्य-परंपरा के द्वारा देश के बड़े भाग में रामभक्ति की पुष्टि निरंतर होती आ रही थी और भक्त लोग फुटकर पदों में राम की महिमा गाते जा रहे थे, पर हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में इस भक्ति का परमोज्वल प्रकाश विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में गोस्वामी तुलसीदास की वाणी द्वारा स्फुरित हुआ।"[75] प्रभु राम के सगुण-साकार स्वरूप को आराध्य बनाकर तुलसी ने 'रामचरित मानस', 'रामललानहछू', 'वैराग्यसंदपनी, 'वैराग्यरामायण', 'पार्वतीमंगल', 'दोहावली', कवितावली', 'गीतावली', 'विनय पत्रिका' आदि ग्रंथों में भगवान के गुणगान गाये हैं। भगवान श्रीराम के स्वरूप को जन-जन तक पहुँचाने का श्रेय तुलसीदास को ही जाता है। तुलसी की सबसे बड़ी विशेषता उनके समन्वयवाद में है। उन्होंने लोक और शास्त्र का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय करके देश और समाज में फैले मनमुटाव और झगड़े को दूर करने का प्रयास किया। अतः तुलसी हिन्दी साहित्य के सबसे बड़े समन्वयवादी और मर्यादावादी कवि थे। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र द्वारा उन्होंने समाज के सामने एक आदर्श रखा जिससे समाज में एकता, मेल और मर्यादा की स्थापना हो सके।

## (ई) सूरदास :

सूरदासजी को कृष्णभक्ति शाखा के प्रमुख कवि का सम्मान मिला है। उन्होंने ब्रजभाषा को सर्वप्रथम साहित्यिक रूप प्रदान किया है। रामानंदी वैष्णव भक्त कवियों में तुलसीदास ने अवधी और कबीर ने जनता की बोलचाल की भाषा को अपनाया, उसी प्रकार सूरदास ने कृष्ण काव्य में ब्रजभाषा को अपनाया और बड़े प्रभावक ढंग से कृष्णलीलाओं का वर्णन किया। सूरदास के साथ नंददास, परमानंद, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास तथा कृष्णदास आदि अष्टछाप के कवियों के रूप में प्रचलित इन कवियों ने इसी परंपरा को अपना करके ब्रजभाषा में कृष्ण-चरित्र का वर्णन किया है। "सूरदास द्वारा रचित साहित्य-ग्रंथों की संख्या 25 मानी जाती है।"[76] इनमें सूर-सागर प्रमाणित और प्रचलित है, इस ग्रंथ में कृष्ण-भक्ति के बड़े सुंदर पदों का संग्रह है। अतः सूरदासजी ने भी कृष्णभक्ति के विकास में एक भक्त कवि के रूप में अपना उल्लेखनीय योगदान दिया है। सूर ने माधुर्य-भक्ति पर बल दिया तथा मनुष्यों में जीवन के प्रति आस्था और आसक्ति पैदा करने का प्रयास किया। इसलिए वे प्रवृत्तिमार्ग के कवि हैं।

## (उ) नरसिंह मेहता :

प्रेमलक्षणा भक्ति और अद्वैतवाद से प्रभावित पदों की रचना करके नरसिंह ने गुजराती साहित्य में आदि कवि का विरुद प्राप्त किया है। जातिवाद का प्रचंड विरोध नरसिंह ने अपने व्यक्तिगत जीवन में किया और समाज को इस दिशा में चलने की प्रार्थना की। कृष्ण-भक्ति के पद गाकर नरसिंह मेहता ने वैष्णभक्ति का प्रचार-प्रसार किया।

रामभक्ति और कृष्णभक्ति के प्रमुख कवियों के योगदान की चर्चा के साथ यहाँ इन कवियों के नामों का उल्लेख करना भी जरूरी है जिनका योगदान भक्ति के विकास में रहा है। ऐसे कवियों में हैं-जयदेव, विद्यापतिठाकुर, चंडीदास, चैतन्य, पुष्टिमार्ग के

कवि-नामदेव, नाथ संप्रदाय के कवि आदि। इन कवियों ने बोलचाल की भाषा में वेद, उपनिषद, पुराण आदि का सारांश बताते हुए प्रभु के गुणगानग किये और भक्ति को समाज के निम्नवर्ग के लोगों तक पहुंचाने का श्रेय प्राप्त किया। शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्वाचार्य, वल्लभ, चैतन्य आदि संस्कृत आचार्यों की परंपरा को रामानंद, कबीर, तुलसी, सूर आदि युग प्रवर्तकों ने अपनी-अपनी विचारधारा को सहज रूप से लोगों तक पहुँचाया और युवावस्था में पहुँची मुगलसत्ता के सामने संस्कृति की रक्षा करने का कार्य किया।

## (3) भक्ति के प्रकार :

साधक अपनी रुचि के अनुसार गुरु का आश्रय लेने के बाद आराध्यदेव का सान्निध्य प्राप्त करने की चेष्टा करता है और सानिध्य प्राप्ति का श्रेष्ठतम उपाय है-भक्ति। भक्त भगवान की भक्ति करता है, उसमें अपनी कुछ विशेषता होती है, इन्हीं विशेषताओं के आधार पर भक्ति के कई भेद होते हैं। विद्वानों ने भक्ति के प्रमुख दो भेद बताये हैं-

(1) साधना भक्ति या गौणी भक्ति।

(2) साध्य भक्ति या प्रेमाभक्ति।

इन दोनों भेदों के अतिरिक्त विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार भक्ति के भेदोपभेदों की चर्चा इस प्रकार की है-

## (क) नारद भक्तिसूत्र के आधार पर भक्ति के प्रकार :

भक्ति के भेदोपभेदों की चर्चा करते हुए 'नारद' ने अपने 'भक्तिसूत्र' में भक्ति के तीन भेद बताये हैं-

### (1) सात्विकी भक्ति :

"कर्मनिर्हारिमुद्दिश्य परस्मिन्वा तदर्पणम्।

यजेघष्टव्यमिति वा प्रथक्तभावक : स सात्विकः॥"[77]

अर्थात्-जो भक्ति सर्व कर्मफल को भगवान के चरणों में अर्पित करने के उद्देश्य से की जाती है, उसे सात्विकी भक्ति कहते हैं।

## (2) राजसी भक्ति :

"विषयानभिसंधाय यश ऐश्वर्यमेव वा।

आचदिावर्चयद्यो मां पृथग्भावः स राजसः॥"[78]

जो भक्ति ऐश्वर्य की कामना से की जाती है वह राजसी भक्ति है।

## (3) तामसी भक्ति :

"अभिसंधाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यभिवेवा।

संरम्भी भिन्नदग्भावंमयि कुर्यात्सि तमसः॥"[79]

अर्थात् भक्ति दम्भ और क्रोध भाव से की जाये उसे तामसी भक्ति कहते हैं। नारदभक्तिसूत्र में प्रेमा भक्ति के संबंध में कहा गया है कि भक्ति परम प्रेमरूप और अमृत-स्वरूपा है। इस प्रेमरूपा भक्ति को प्राप्त कर लेने पर मनुष्य न तो किसी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है और द्वेष करता है और न आसक्त होता है, न तो विषयभोगों की प्राप्ति उसे उत्साह देती है। गोपियों में यही प्रेमरूपा भक्ति थी ।'नारद' कहते हैं-

"तस्या ज्ञानमेव साधनभित्य के।"[80]

ज्ञान प्रेमरूपा भक्ति का साधन है और यह भक्ति कर्म, ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठ है। महर्षि नारद का मानना है कि गौणी भक्ति गुणभेद से सात्विकी, तामसी, राजसी तीन प्रकार की है। और यह तीन प्रकार आर्त जिज्ञासु तथा अयार्थी-इन तीन प्रकार के पुरुषों के भेद से तीन प्रकार की भक्ति होती है। उन्होंने भक्ति में सबका अधिकार माना है-

"नास्ति तेषु जाति विद्या

रूपकुल धन क्रिया द्विभेदः"[81]

अर्थात्-भक्ति में जाति, विद्या, रूप, कुल और क्रिया आदि का भेद नहीं होता, भक्ति में सबका समान अधिकार है।

## (ख) शांडिल्य-भक्तिसूत्र के आधार पर भक्ति के भेद :

भक्ति के प्रकारों की चर्चा करते हुए शांडिल्य ने कहा है-

"गौणं त्रैविध्यमितरेण स्तुत्यर्भत्वात् साहचर्यम्।"[82]

साधक की भावना और स्थिति-भेद से तीन प्रकार की भक्ति होती है-

(1) आर्त भक्ति

(2) जिज्ञासा-भक्ति

(3) अथार्थिता भक्ति

शांडिल्य भक्तिसूत्र में भक्ति का विवेचन करते हुए लिखा है-प्रेमरूप भक्ति अंगी और ज्ञान तथा योग उनके अंग हैं। क्योंकि ज्ञान और योग, भक्ति की अपेक्षा रखते हैं।अंगी भक्ति अपने अंगों कर्म, योग और ज्ञान से श्रेष्ठ सिद्ध हुई। भक्ति-श्रवण, नाम, कीर्तन आदि में रोमांच, अश्रुपात आदि चिह्नों से भाव प्रकट होता है। भगवान के जन्म और कर्म दोनों दिव्य हैं, भगवान के प्रति जो भक्ति होती है वह भी पराभक्ति है। पराभक्ति की प्राप्ति गौणी भक्ति से होती है। नवधा भक्ति ही गौणी भक्ति कही जाती है। नवधा भक्ति के किसी भी एक साधन का विशेष रूप से अनुष्ठान करने पर ही साधना पराभक्ति को प्राप्त करने में समर्थ होती है। पराभक्ति प्राप्त हो जाने पर भक्त के संचित कर्मों का उदय होता है और भक्त भगवान की प्राप्ति और मुक्ति को पाता है। महर्षि शांडिल्य ने उच्च जाति से लेकर चांडालादि को समान रूप से भक्ति का अधिकार होना चाहिए, इस बात को स्वीकार किया है।

## (ग) मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार भक्ति के भेद :

"चित्त द्रुतेः कारणनां भेदत् भक्तिस्तु भिद्यते।
तान्युक्तानि तु संक्षेपपाद् व्याख्यायन्तेऽधुना स्फुटम्॥"[83]

मधुसूदन सरस्वती का कहना है कि-चित्तद्रुति के कारणों में भेद होने के कारण भक्ति के चार भेद होते हैं।

(1) राजसी

(2) तामसी

(3) सात्विकी

(4) मिश्रिता

ईर्ष्याजिन्य द्वेष से राजसी भक्ति, भयजन्य द्वेष से तामसी, हर्षातिरेक से सात्विकी भक्ति, काम और शोकादि से मिश्रिता भक्ति उत्पन्न होती है। मधुसूदन सरस्वती का कहना है कि रजोगुण और तमोगुण से जब सत्वगुण का अंश अभिभूत रहता है, तब भक्ति के दृष्टफल में प्रतिबंध लग जाता है, किन्तु अदृष्टफल क्षीण नहीं होता।

## (घ) श्री रूप गोस्वामी के मतानुसार भक्ति के प्रकार :

"सा भक्तिः साधनं भावः प्रेमाचेति त्रिधोदिता।"[84]

श्री रूप गोस्वामी के मतानुसार भक्ति तीन प्रकार की है।

(1) साधन भक्ति

(2) भावभक्ति

(3) प्रेमाभक्ति

इन तीनों प्रकारों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है-

### (1) साधन भक्ति :

"कृतिसाध्य भवेत साध्यभावा साधना भिधा।"[85]

अर्थात् इष्टदेव के प्रति उपाय-साध्य भाव को भक्ति कहते हैं। साधन भक्ति के दो भेद बताये हैं (अ) वैधी (ब) रागानुगा। जहां भावुक की भक्ति की शास्त्राज्ञान से ही प्रवृत्ति होती है, प्रेमाकर्षण नहीं, उसे वैधी भक्ति कहते हैं। श्री कृष्ण के प्रति

ब्रजभाषियों के हृदय में व्यक्त अनुराग को रागानुगा भक्ति कहते हैं। श्री रूपगोस्वामी ने रागानुगा भक्ति के दो भेद बताये हैं- कामरूपा और सबंधरूपा।

## (2) भावभक्ति :

"शुद्ध सत्व विशेषात्मा प्रेमसूर्यशु साम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमा स्टण्य कृद सौभाव उच्चते।"[86]

भक्ति की चर्चा करते हुए रूपगोस्वामी ने कहा है कि- नानारुचियों से चित्त को कोमल बनानेवाले शुद्ध, सत्यमय और प्रेमाभिन्न अनुराग को भावभक्ति कहते हैं। साधक के हृदय में इस भक्ति का उदय साधना भक्ति का अनुशरण करने से या भगवान की कृपा होने पर होता है।

## (3) प्रेमाभक्ति :

"भावोत्योऽति प्रसादोत्यः श्री हेररिति सद्विधा।"[87]

वैधी और रागानुगा भावभक्ति का अनुष्ठान करने पर भगवान की महती कृपा होने पर साधक के हृदय में प्रेमाभक्ति का उदय होता है। अंतःकरण को सम्यक् रीति से कोमल बनानेवाले भगवान के प्रति अतिशय ममत्व को स्थापित करनेवाले और आत्मा में पूर्वोक्त भाव को दृढ़ करनेवाले भाव को प्रेमाभक्ति कहते हैं। प्रेमाभक्ति के दो भेद होते हैं जैसे-

"महात्म्यज्ञान युक्तश्च केवलश्चेति सद्विधा।"[88]

एक महात्म्यज्ञान युक्त प्रेमाभक्ति और माधुर्यज्ञान युक्त प्रेमाभक्ति-इस प्रकार रूपगोस्वामी ने अपने ग्रंथ भक्ति रसामृत में भक्ति की सुंदर व्याख्या के साथ-साथ भक्ति के भेदोपभेदों की चर्चा की है। उनका कहना है कि वैधी भक्ति के 64 अंग होते हैं और जिनमें-

"अर्चनं परिचर्या च गीत संकीर्तनं जपः।
आरात्रिकोत्सवादेश्च श्रवणं तत्कृपेक्षणम्
स्मृतिर्ध्यानं तथा दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥"[89]

नवधा भक्ति के नौ अंगों का भी उल्लेख यहाँ आता है।

## (च) निम्बार्क के मतानुसार भक्ति के प्रकार :

निम्बार्क के मत से भक्ति दो प्रकार की होती है-

(1) साधनरूप अपरा भक्ति :

(2) उत्तमापरा भक्ति

भक्ति का तात्विक विवेचन करते हुए आचार्य निम्बार्क ने अपरा और पराभक्ति के द्वारा भगवद् प्राप्ति की बात कही है।

भक्ति के प्रमुख भेदोपभेदों के साथ-साथ विद्वानों ने रस के आधार पर, आलंबन के आधार पर, शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य मधुर, निर्गुण, सगुण, आर्त की भक्ति, अर्थार्थी की भक्ति, जिज्ञासु की भक्ति, ज्ञान की भक्ति आदि, भक्ति के प्रकारों की चर्चा की है। इस प्रकार की भक्ति के द्वारा भक्त भगवान को अर्थात् परम तत्व को प्राप्त करने का प्रयास करता है। भक्त की भगवद्-भक्ति की शैली के आधार पर भक्ति के प्रकार अस्तित्व में आये। भगवान को अनन्य प्रेम करनेवाला भक्त, प्रेमलक्षणा भक्ति करनेवाला भक्त कहा गया।

## (4) भक्ति के साधन :

मनुष्य मात्र अपने दुःख-निवारण और सुख-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। दुःखहर्ता, सुख के दाता परमात्मा से प्रार्थना करता रहता है, हे प्रभु, मेरा कल्याण करो, मुझ पर कृपा करना। पामर मनुष्य प्रभु तक पहुँचने के लिए तत्पर है, इसलिए हमारे ऋषि-मुनियों ने, शास्त्रकारों ने, संतों ने साधक को प्रभु-प्राप्ति के साधन बताये हैं। वैदिक ऋषि से लेकर मध्यकालीन साधु-संतों ने अपने अपने-अपने मतानुसार भक्ति के साधनों की चर्चा की है।

## (क) वेदों की संहिताओं में भक्ति के साधन :

सत्संग, श्रद्धा, अद्रोह, दान, ब्रह्मचर्य, कामादिदोष निवारण आदि अनेक भक्ति के साधनों का वर्णन वेदों की संहिताओं में मिलता है।

## (ख) सत्संग :

"पुनर्ददता घ्नता जानता संगमेमहि।"[90]

उदार स्वभाववाले, विश्वासघातादि, दोषरहित, विवेक-विचारशील ज्ञानी भक्त की हम बार-बार संगति करते रहें। यहाँ उच्च गुणवाले व्यक्ति,जो ज्ञानी हो,दानी हो ऐसे व्यक्ति की संगति से ही भक्ति होती है,अर्थात् प्रभु का गुणगान आदि होता है।

## (ग) श्रद्धा :

"व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।

दक्षिण श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥"[91]

अर्थात् मनुष्य,व्रतपूर्वक यज्ञानुष्ठान करने से दक्षता को प्राप्त करता है,दक्षता से प्रतिष्ठा को और प्रतिष्ठा से श्रद्धा की प्राप्ति होती है,और श्रद्धा से सत्यरूप परमेश्वर की प्राप्ति होती है।

## (घ) अद्रोह :

"मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।"[92]

मित्र भाव की दृष्टि से मैं समस्त प्राणियों को देखता हूँ। अर्थात् मैं किसी से कभी भी द्वेष एवं द्रोह नहीं करूँगा, किन्तु शक्ति के अनुसार सब की भलाई ही करता रहूँगा।

## (च) दान-उदारता :

"शतहस्त समाहर,सहस्र हस्त संकिर।"[93]

सौ हाथों से उत्साह एवं प्रयत्न द्वारा हे मानव,तू धन-धान्यादि को संपादन कर और हजार हाथ की उदारता द्वारा तू उसका दान कर या योग्य अधिकारियों में वितरण कर।

## (छ) ब्रह्मचर्य-संयम :

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमापाघ्नत।"[94]

अर्थात् ब्रह्मचर्य ही श्रेष्ठतम है, उसके लाभ द्वारा ही मानव दैवी संपत्तिसंपन्न देव हो जाता है और वे अनायास ब्रह्मविद्या एवं अनन्य भक्ति का संपादन करके अविद्या रूप मृत्यु का विध्वंस कर देते हैं।

## (ज) कामादि-दोषनिवारण :

"अलुकयातं शुशुलूक्यातं जहि ज्वयातुभूत कोकयातुम्
सुपुर्णयातुमुत गृध्रयातुं दषदेव प्रभृण रक्ष इन्द्र।"[95]

अर्थात् हे इन्द्र स्वरूप जीवात्मन्! दिवान्ध उलूक के समान आचरण करनेवाले मोहरूपी राक्षस, मोडिये के समान आचरण करनेवाले कोधरूपी राक्षस का, कुत्ते के समान आचरण करनेवाले मत्सररूपी राक्षस का तथा चकवा-चकवी पक्षी के समान उच्चारण करनेवाले कामरूपी राक्षस का, गरूड़ के समान उच्चारण करनेवाले मदरूपी राक्षस, गीध के समान उच्चारण करनेवाले लोभरूपी राक्षस का, सदुपायों के द्वारा विध्वंस कर और जैसे पत्थर से मिट्टी के ढेले को पीसा जाता है, वैसे ही उन छः मोहादि दोष रूपी राक्षस शत्रुओं को पीस डालता है।

इस प्रकार वेदों की संहिताओं में सत्संग, संयम और श्रद्धा रूपी साधना से साधक का जीवन कल्याणमय बनाने की बात विस्तार के साथ कही गई है।

## (ख) भागवत में प्रतिपादित भक्ति के साधन :

भागवत में भगवद् प्राप्ति के नौ साधन बताये गये हैं, जो नवधा-भक्लि के नाम से जगत में खूब चर्चित है। भागवतकार ने भक्ति के नौ अंगों की चर्चा करते हुए कहा है-

"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम्॥"[96]

अर्थात्- श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन आदि विभिन्न शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं से भक्त भगवान को प्राप्त कर सकता है।

### (1) श्रवण :

भगवान के नाम, चरित्र और गुणों को सुनना श्रवण-भक्ति है।

"जिन हरिकथा सुनी नहिं काना।
श्रवण रंध्र अहि भवन समाना॥"[97]

पृथु, राजा परीक्षित, उद्धव, जनमेजय आदि कथाश्रवण करके भगवद् प्राप्ति करनेवाले उदाहरण हैं। अतः प्रभुकथा सुनते-सुनते भी प्रभु की प्राप्ति होती है।

### (2) कीर्तन :

भगवान का नाम, प्रभुलीला, प्रभु-गुणों को उच्च स्वर में कहना, तन्मय होकर हरि के गुणों को गाना-कीर्तन भक्ति है। नारद जैसे भक्तों ने जगह-जगह प्रभु का गुणगान गाकर प्रभु-कीर्तन करके भक्ति की है।

### (3) स्मरण :

भक्ति उठते-उठते, सोते-जागते, चलते-फिरते सारी क्रियाएं करते हुए, सभी अवस्थाओं में मन के साथ भगवान से संबंध स्थापित करता है, वही स्मरण भक्ति है। ध्रुव, प्रह्लाद, विदुर आदि भक्तों ने प्रभुस्मरण को साधन स्वीकार करके भगवद्-प्राप्ति की है।

### (4) पादसेवन:

मनुष्य अपने कल्याण के लिए एकाग्र होकर भगवान के चरण-कमलों की सेवा करता है, उसे पादसेवन कहते हैं। सीताजी, हनुमान, अंगद, जटायु आदि ने प्रभुचरणों की सेवा का लाभ विशेष रूप से लिया था और उन्हें भगवद्प्राप्ति हुई थी।

### (5) अर्चन:

संपूर्ण श्रद्धा के साथ आराध्य देव की मूर्ति की पूजा करना अर्चन कहलाता है। भागवत में आठ (8) प्रकार की प्रतिमाएँ बतायी गयी हैं-

"शैली दारुमयी लौही लेप्या लेखा च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥"[98]

इसमें अपने मन की भावना के अनुसार भक्त भगवान की अर्चना करता है, मीरा, नामदेव आदि ने अर्चन भक्ति का आश्रय लिया था।

## (6) वंदन :

दोनों हाथ जोड़कर, भावविभोर होकर प्रभु की स्तुति करते-करते प्रणाम करना वंदन भक्ति है। इष्टदेव, सदगुरु, साधु-संत आदि को सादर साष्टांग नमस्कार करने में ही वंदन भक्ति है। भक्त सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में अर्थात् अणु-अणु में प्रभु को देखता और वंदन करता है। भागवत में कहा गया है-

"रवं वायुमग्निमं सलिलं महींच
ज्योतिपिस्तवानि दशो द्रुमादीन।
सरित्सु द्रांश्य हरेः शरीरं यत किंच
भुतं पणमन्दनन्य :॥"[99]

यहाँ आकाश, जल, वायु, अग्नि, प, थ्वी, प्राणीमात्र, वक्ष आदि में विशिष्ट पुरुष के अर्थात् प्रभु के अंश को स्वीकार करके वंदन करके प्रणाम करके भक्त अपने को धन्य बनाता है।

## (7) दास्य :

साधक अपने सभी कर्मों को भगवान के प्रति अर्पित करता है, वही दास्यभक्ति है। भक्त अपने आपको प्रभु का दास, सेवक मानकर भगवान और भगवान के भक्त की दास्य भाव से सेवा करता है, प्रभु मेरा मालिक है, स्वामी है और मैं उनका दास हूँ-ऐसी भावना से भक्ति करनेवाले भक्त हैं हनुमानजी, विदुरजी और भरत आदि। हिन्दी में तुलसी ने दास्यभक्ति की महिमा का बखान किया है तथा उसी भक्ति को अपनाया है। 'जन्म न अर्थ न, राम पद यह वरदान न आन।

## (8) सख्य :

भगवान को अपना सखा, मित्र मानकर स्नेहभाव से उनमें अटल विश्वास रखकर मैत्रीभाव स्थापित होना-सख्य भक्ति है। इस प्रकार की भक्ति की भक्ति में भक्त भगवान को अपना सखा मानकर एक दिव्य दोस्ती की अनुभूति करता है। अर्जुन, उद्धव, सुग्रीव और गुह आदि की भक्ति सख्यभाव की भक्ति है।

## (9) आत्मनिवेदन :

जब भक्त भक्तिमार्ग पर बहुत आगे निकल जाता है तब एक समय ऐसा आता है जहाँ सर्वस्व न्योछावर करने की भावना पैदा होती है, समर्पण की भावना जागृत होती है तब भक्त भगवान की सेवा में उनके चरणों में मन, वचन और कर्म से अर्थात् अपनी आत्मा को समर्पित करता है, तब आत्मनिवेदन भक्ति होती है।

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः॥"[100]

भगवान के इसी आदेश को स्वीकार करके गोपियाँ और ग्वालों ने आत्मनिवेदन भक्ति के द्वारा मुक्ति प्राप्त की। इस प्रकार भागवत में नौ प्रकार की भक्ति के द्वारा नाममहिमा, मूर्तिउपासना और श्रद्धाविशेष आदि का महत्व बताया गया है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि मानमहिमा हैं। पादसेवन, अर्चन, वंदन, मूर्ति उपासना हैं। दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन श्रद्धाविशेष है।

गोस्वामी तुलसीदास ने मानस में श्रीराम के मुख से शबरी को नवधा भक्ति इस प्रकार सुनायी है।

"नवधा भक्ति कहउँ तोहि पाही, सावधान सुनु धरु मन मांही"
प्रथम भक्ति संतन्ह कर संगा। दूसरि रत मम कथा
प्रसंगा गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भक्ति भगति अमान।
चौथी भगति ममगुन गन, करइ कपट तजि गान॥

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
षट् दम सील बिरति बहु करमा, निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सतईं सम मोहि मय जग देखे, मोते संत अधिक करि लेखे॥
अठईं जथा लाभ संतोषा, सपनेहूँ नहिं देखइ पर दोषा॥
नवम सरल सब सन छल हीना, मम भरोस हिये हरष न दीना॥
नव महुँ एकउ जिन्ह के होई। नारि पुरूष सचराचर कोई॥
सोई अतिसय प्रिय भामिनि मोरे।सफल प्रकार भगति दृढ़तोरे॥[101]

यहाँ भगवान ने शबरी को कहा-संत का संग, मेरी कथा में रुचि, गुरु सेवा, कपटरहित गुणगान करना, मेरे प्रति दृढ़ विश्वास, छलकपट रहित कर्म करना, अणु-अणु में मेरा दर्शन करना, अन्य में दोष न देखना, जीवन को मेरे भरोसे छोड़ना आदि को पालनेवाला स्त्री-पुरुष मुझे अत्यंत प्रिय हैं, और मुझे प्रसन्न कर सकते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि इनमें से किसी के पास एक भी भक्ति हो तो वह संसार-सागर पार कर जाता है और तुममें तो नौ की नौ हैं। अर्थात तुम्हारी भक्ति संपूर्ण है।

आध्यात्म रामायण और ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में भी नवधा भक्ति का उल्लेख है, किन्तु आध्यात्मरामायण और ब्रह्मवैवर्त्त पुराण दोनों में जो भक्ति के साधन बताये गये हैं, और भागवत में जो नवधा भक्ति है, उनमें विशेष अन्तर नहीं है। भागवत् में दास्य और सख्य के स्थान पर ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में 'भाव' और 'ध्यान' का उल्लेख है। 'आध्यात्मरामायण' की नवधा भक्ति में साधक का भगवान से संबंध स्थापित करने के साथ साधक की चित्तवृत्तियों का परिष्कार भी किया गया है। उपरोक्त भक्ति के साधनों को अपनाकर भक्तों ने जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य प्राप्त कर लिया है, भगवद् प्राप्ति कर ली है।

## संदर्भ सूची :

(1) भक्ति पत्रिका-त्रिदंडी स्वामी-पृ. 15

(2) भक्ति-पत्रिका, पंडित देवदत्तशास्त्री-पृ. 66

(3) भक्ति-पत्रिका, भक्तिविलासजी-पृ. 70

(4) भागवत्-3/25/32-33
(5) देवी भागवत-पृ. 7/31
(6) शांडिल्यभक्तिसूत्र-पृ. 2
(7) वही -पृ. 43
(8) नारदभक्तिसूत्र- पृ. 16
(9) वही -पृ. 19
(10) हरिभीकत रसामृत सिंधु-श्रीरूपगोस्वामी-1/1/11
(11) गीता-7/1 रामानुज कृत भाष्य
(12) भक्ति पत्रिका-स्वामी विवेकानंद- पृ. 77
(13) विवेक चूड़ामणी-पृ. 32
(14) तत्वार्थ दीपनिबंध-भक्ति पत्रिका-पृ. 95
(15) कल्याण भक्ति रहस्य- हिन्दू संस्कृति अंक-पृ. 437
(16) चिन्तामणी-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-पृ. 32 भाग-1
(17) भक्ति के लक्षण-भक्ति पत्रिका-पृ. 253
(18) भक्तिरसायन-मधुसूदनसरस्वती-पृ. 65
(19) मीरा जीवन कवन-निर्मला झवेरी-पृ. 4
(20) प्रो. ए. मेकडनिल-संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ-70
(21) भक्ति पत्रिका-भक्तिविलासजी-पृ. 15
(22) कठोपनिषद-1/2/25
(23) गीता-15/15
(24) ऋग्वेद-1/164/46
(25) प्रो. ए. मेकडनिल-संस्कृत साहित्य का इतिहास, -पृ. 75
(26) भक्ति-पत्रिका-श्री दीनानाथजी-पृ. 44
(27) ऋग्वेद-1/150/43
(28) अथर्ववेद-7/40/08
(29) अथर्ववेद-10/7/32
(30) ऋग्वेद-1/86/10
(31) सामवेद-6/3/13
(32) यजुर्वेद-25/11
(33) ऋग्वेद-10/82/6

(34) ऋग्वेद-10/82/2
(35) भक्ति-पत्रिका-रसमोहन चक्रवर्ती-पृ. 53
(36) श्वेताश्वर उपनिषद-6/32
(37) कठोपनिषद-1/2/23
(38) कठोपनिषद-2/2/3
(39) कठोपनिषद-1/2/20
(40) मंडक उपनिषद-3/1/1
(41) छान्दोग्य उपनिषद-3/14/1
(42) छान्दोग्य उपनिषद-3/18/1
(43) भक्ति-पत्रिका-राजमोहन चक्रवर्ती-पृ. 55
(44) वही-पृ. 55
(45) श्रीमद्भागवत-11/20/32
(46) नारदीयपुराण-32/39
(47) पद्मपुराण-शिवगीता-14/5
(48) ऋग्वेद-1/12/17-18
(49) पद्मपुराण-2/4/6
(50) भागवत-11/2/39
(51) भागवत-11/11/35
(52) महाभारत भीष्मपर्व-43/12
(53) गीता-4/11
(54) गीता-4/8
(55) वैष्णव धर्म नो संक्षिप्त इतिहास-दुर्गाशंकर शास्त्री-पृ. 164
(56) भक्ति पत्रिका कनैयालाल माणेकलाल मुंशी-पृ. 164
(57) संतसाहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि-
डा. सावित्री शुक्ल-पृ. 24
(58) हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास-राजनाथ शर्मा-
पृ. 129
(59) संतसाहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि-
डा. सावित्री शुक्ल-पृ. 26
(60) मीरा जीवन कवन-निर्मला झवेरी-पृ. 13

(61) भक्ति-पत्रिका-पृ. 183
(62) वैष्णव भक्ति नो संक्षिप्त इतिहास-दुर्गाशंकर शास्त्री-पृ. 175
(63) वही -पृ. 175
(64) वही -पृ. 175
(65) वही -पृ. 175
(66) संतसाहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि-
डा. सावित्री शुक्ल-पृ. 31
(67) भक्ति-पत्रिका-निम्बार्काचार्य और भक्ति -पृ. 184
(68) निम्बार्क की भक्ति-प्रा. सी. एम. पटेल-पृ. 98
(69) माध्वाचार्य की भक्ति-भक्ति-पत्रिका-पृ. 188
(70) हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास-राजनाथ शर्मा-
पृ. 134
(71) भागवत-2/7/46
(72) संतसाहित्य की सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि-
डा. सावित्री शुक्ल-पृ. 28
(73) मीरा जीवन कवन-निर्मला झवेरी-पृ. 32
(74) कबीरवाणी-पृ. 112
(75) हिन्दी साहित्य का इतिहास-रामचंद्र शुक्ल-पृ. 98
(76) हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास-राजनाथ शर्मा-
पृ. 230
(77) भागवत-3/29/10
(78) भागवत-3/29/9
(79) भागवत-3/29/8
(80) नारद भक्तिसूत्र-पृ. 28
(81) नारद भक्तिसूत्र-पृ. 72
(82) शांडिल्य भक्तिसूत्र-पृ. 72
(83) भक्ति रसायन-मधुसूदन सरस्वती-2/2
(84) हरिभक्ति रसामृत-श्री रूपगोस्वामी-1/2/1
(85) हरिभक्ति रसामृत-श्री रूपगोस्वामी-1/2/1
(86) हरिभक्ति रसामृत-श्री रूपगोस्वामी-1/3/1

(87) हरिभक्ति रसामृत-श्री रूपगोस्वामी-1/4/3
(88) हरिभक्ति रसामृत-श्री रूपगोस्वामी-1/4/4
(89) हरिभक्ति रसामृत-श्री रूपगोस्वामी-पृ. 46
(90) ऋग्वेद-5/51/15
(91) यजुर्वेद-19/30
(92) यजुर्वेद-36/18
(93) अथर्ववेद-3/24/5
(94) अथर्ववेद-11/7/19
(95) ऋग्वेद-9/7/6 अथर्ववेद-8/42/22
(96) श्रीमद्भागवत-10/18/30
(97) रामचरितमानस-पृ. 77
(98) श्रीमद्भागवत-11/27/12
(99) भागवत्-10/5/40
(100) गीता-18/66
(101) रामचरितमानस-अरण्यकांड-35/4 से 36/4 तक